ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

वह घड़ी कब आयेगी....!

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित `अपूर्व अवसर' काव्य पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

हिन्दी रूपान्तरण
स्व० पण्डित वंशीधर जैन
कोलकाता

सम्पादक
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

प्रकाशन सहयोग
श्री निखिलप्रताप राय गाँधी
हस्ते बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी
मुम्बई

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 2000 प्रतियाँ
(**तीर्थधाम मङ्गलायतन** में आयोजित आध्यात्मिक शिक्षण शिविर के अवसर पर अक्टूबर 2011)

ISBN No. :

न्योछावर राशि : रुपये 15.00

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com;
e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित **अपूर्व-अवसर** काव्य पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों का अद्‌भुत सङ्कलन **वह घड़ी कब आयेगी....!** नाम से प्रकाशित कर सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए, हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की उपस्थिति में ही श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय-मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ एवं अन्य संस्थाओं द्वारा हिन्दी एवं गुजराती में प्रकाशित होते रहे हैं। प्रस्तुत प्रवचन सन् 1939 में हुए हैं। सम्भवत: पूज्य गुरुदेवश्री के प्राचीन प्रवचनों का यह पहला ही संस्करण था, जिसे समाज ने काफी सराहा और सम्मान दिया।

इसी प्रवचनग्रन्थ को, साधर्मीजनों की तीव्र माँग को देखते हुए **तीर्थधाम मङ्गलायतन** से प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ का नाम **अपूर्व अवसर प्रवचन** के स्थान पर **वह घड़ी कब आयेगी....!** किया गया है। जो कि सबको रुचिकर प्रतीत होगा - ऐसी आशा है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रवचनग्रन्थ के प्रकाशन में हमारे द्वारा पूर्व में प्रकाशित धन्य-मुनिदशा आदि प्रवचनग्रन्थ एवं कथा संग्रह भी प्रेरक रहे हैं। निश्चित ही किसी भी ज्ञानी-धर्मात्मा के जीवन में मुनिदशा से लेकर सिद्धदशा तक की प्राप्ति की कैसी उत्कृष्ट भावना होती है ? - वह इस ग्रन्थ में कदम-कदम पर दृष्टिगोचर होता है। साथ

ही एक साधक, साधना की पगडण्डी पर किस तरह आगे बढ़ता है ? यह जानने का सुअवसर प्राप्त भी होता है।

इस प्रवचनग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व इसका, गुजराती प्रकाशन के दो अलग-अलग संस्करणों से मिलान करके आवश्यक संशोधन किया गया है। साथ ही, प्रत्येक काव्य का भावदर्शक चित्र एवं हिन्दी पद्यानुवाद देकर इस प्रकाशन को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री ने इस प्रवचनग्रन्थ की अमूल्य भेंट देकर समस्त सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों पर अपूर्व उपकार किया है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयंबुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित श्रीसमयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया और क्या नहीं छोड़ा ? भगवान समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीवमात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्प काल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ **'वह घड़ी कब आयेगी....!'** प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन को नये सम्पादितरूप में प्रस्तुत करने का कार्य ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन बिजौलियाँ द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ में समाहित अपूर्व-अवसर काव्य का हिन्दी पद्यानुवाद बाल-ब्रह्मचारी सुमतप्रकाश जैन, खनियाँधाना द्वारा किया गया है, तदर्थ हम आभारी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्री निखिलप्रताप राय गाँधी हस्ते बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, मुम्बई** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचनग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – यही भावना है।

01 फरवरी 2010
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

श्रीमद् राजचन्द्र रचित 'अपूर्व अवसर' काव्य पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सम्पादित सङ्कलन 'वह घड़ी कब आयेगी...!' सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

सुप्रसिद्ध जैनतत्त्ववेत्ता श्रीमद् राजचन्द्रजी ने विक्रम संवत् 1952 के मगसिर माह में अपनी जन्मभूमि बवाणियाँ में 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी। श्रीमद् राजचन्द्र, वीतरागता के महान उपासक और आत्मज्ञानी सत्पुरुष थे, उन्हें बाल्य-अवस्था में ही जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ था। उनके अन्त:स्थल में गृह-जञ्जाल से निवृत्ति की तीव्रतम भावना थी जो इस काव्य से प्रस्फुटित हुई है।

यह 'अपूर्व अवसर' काव्य जैन समाज के साथ-साथ अन्य धर्मानुयायियों में भी बहुत प्रसिद्ध है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी इस काव्य से अत्यधिक प्रभावित थे और उनके आश्रम की भजनावली में प्रस्तुत काव्य सङ्कलित है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने यह भावना स्वयं को निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद भायी है। इससे यह समझना चाहिए कि धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है, और सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सच्चा चारित्र होता है। इस सम्बन्ध में कविवर पण्डित दौलतरामजी ने अपनी अमर कृति छहढाला में कहा है - **मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ि या बिन ज्ञान चरित्ता...।** इस काव्य के नौंवे पद्य में द्रव्यलिङ्गी और भावलिङ्गी साधु का वर्णन अत्यन्त सुन्दररूप से किया गया है और यह भी बताया गया है कि भीषण उपसर्ग परिषहों के प्रसङ्गों में भी वीतरागी सन्तों की परिणति कैसी अद्भुत होती है?

इन प्रवचनों में मुनिधर्म का स्वरूप स्पष्टरूप से प्रसिद्ध होता है। इन प्रवचनों में समागत निम्न बिन्दुओं पर समस्त साधर्मी समाज को विशेष ध्यान देना अनिवार्य है –

1. मुनिधर्म सर्वोत्कृष्ट साधकदशा है।

2. मुनि–अवस्था में मात्र देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देह के प्रति ममत्व नहीं है।

3. देह को उपचार से संयम का उपकरण कहा है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय–कषाय के पोषण के लिए नहीं होती, अपितु संयम के लिए होती है।

4. पूजा–सत्कार के लिए या देह को सुन्दर दिखाने के लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि–अवस्था में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं होता।

5. जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैनमुनि के वस्त्र नहीं होता।

6. मुनिदशा में अंशमात्र भी देह में आसक्ति या ममता नहीं होती।

7. मुनि की साधकदशा में 28 मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते हैं।

8. मुनि के छट्ठे गुणस्थान में आहार लेने का विकल्प होता है, वहाँ आहार लेने की वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्च्छा या लोलुपता नहीं है।

9. गृहस्थावास में कषाय का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, इसलिए सच्चा मुनित्व होना चाहिए और वह नग्न वस्त्ररहित के ही होता है।

10. वह अपूर्व अवसर धन्य है, जब देह मात्र संयम के लिए ही हो, नग्न रहे किन्तु वस्त्र नहीं हो, द्रव्य और भाव दोनों से नग्न–निर्ग्रन्थ हो।

11. जैन धर्मानुसार तीनों काल में नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ दशायुक्त साधक –अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रगट करने का प्रयोग है।

प्रस्तुत संस्करण

यह तो सर्व विदित है कि तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मुनिदशा के स्वरूप, महिमा आदि विषयक प्रवचनों का प्रकाशन 'धन्य–मुनिदशा' के नाम से किया गया है, तथा मुनि जीवन की प्रेरक कथाओं के रूप में 'धन्य–मुनिराज हमारे हैं' का प्रकाशन चार खण्डों में किया

जा चुका है। प्रस्तुत प्रकाशन भी इसी शृङ्खला की एक कड़ी है।

इस सम्पादित संस्करण के प्रकाशन से पूर्व इसका दो अलग-अलग गुजराती प्रतियों के आधार पर मिलान किया गया है एवं आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

प्रस्तुत संस्करण में गुजराती काव्य का हिन्दी पद्यानुवाद एवं प्रसङ्गोचित चित्र भी दिया गया है।

लम्बे-लम्बे गद्यांशों को पठन-पाठन की सुविधा हेतु छोटा किया गया है।

पूर्व प्रकाशित इस ग्रन्थ का नाम 'अपूर्व अवसर महान काव्य पर प्रवचन' था, जिसे परिवर्तित कर **वह घड़ी कब आयेगी....!** किया गया है। हमें आशा है, यह नाम सबको रुचिकर प्रतीत होगा।

प्रस्तुत काव्य की रचना करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्र एवं उसमें समाहित रहस्यों का उद्घाटन करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का समस्त धर्मप्रेमी समाज पर अनन्त उपकार है। इस उपकार के लिए दोनों महापुरुषों के श्रीचरणों में विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत प्रकाशन के मूल प्रेरक अपने विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, क्योंकि आपके पावन सान्निध्य में रहकर जैनतत्त्वज्ञान एवं पूज्य गुरुदेवश्री के महान व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है।

सभी साधर्मी इस ग्रन्थ का आद्योपान्त स्वाध्याय कर, अपने जीवन में मुनिदशा की उग्र भावना भायें - इसी आशा के साथ।

01 फरवरी 2010
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

ॐ

परमात्मने नमः

वह घड़ी कब आयेगी....!

श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत
'अपूर्व-अवसर' काव्य पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी जन्मभूमि, ववाणिया (सौराष्ट्र) में प्रात:काल अपनी माताश्री की शय्या पर बैठकर इस 'अपूर्व -अवसर' नामक काव्य की रचना की थी।

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित इस अपूर्व-अवसर काव्य में मुख्यरूप से परमपद, अर्थात् मोक्षप्राप्ति की भावना व्यक्त की गयी है। आत्मा, त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टास्वरूप, अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसका अनुभव करने के लिए सर्वज्ञ-वीतराग की आज्ञानुसार तत्त्वार्थों की निश्चयश्रद्धा होती है, तत्पश्चात् ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ बढ़ने से क्रमश: शुद्धता की वृद्धि होती है। इस अपेक्षा से जीव की अवस्था में चौदह गुणस्थान होते हैं, उनमें से चौथे गुणस्थान से विकास की श्रेणी प्रारम्भ होती है।

जैसे, महल के ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं; उसी प्रकार मोक्षरूपी महल में जाने के लिए गुणस्थानरूपी चौदह सीढ़ियाँ हैं। उनमें से प्रथम सम्यग्दर्शनरूप चौथे गुणस्थान से मङ्गलमय प्रारम्भ होता है। आत्मस्वरूप की जागृति की वृद्धि के लिये यह भावना है।

हम तो मुनियों के दासानुदास हैं

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। **दिगम्बर साधु अर्थात् साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं!** अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात? **ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।**

(- गुरुदेवश्री के वचनामृत, 142, पृष्ठ 90)

काव्य - 1

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो?
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्षण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो?
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

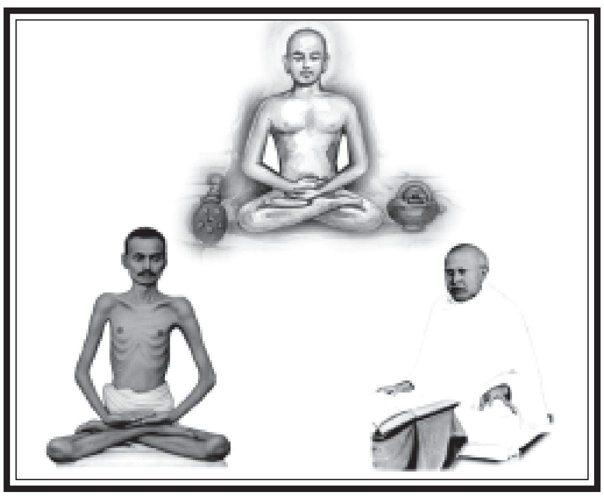

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब।
सम्बन्धों का बन्धन तीक्षण छेद कर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब॥
अपूर्व.........॥

काव्य - 1 पर प्रवचन

गृहस्थ धर्मात्मा, आत्मा की प्रतीतिसहित, पूर्णता का लक्ष्य रखते हुए तीन प्रकार के मनोरथ / भावना भाता है –

(1) मैं सब सम्बन्धों से छूटूँ;

(2) स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा कषायरूप अभ्यन्तर परिग्रह का पुरुषार्थ द्वारा त्यागकर निर्ग्रन्थ मुनि होऊँ;

(3) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूँ।

जबकि संसारी मोही जीव यह मनोरथ / भावना भाता है कि मैं गृहस्थ–कुटुम्ब की वृद्धि करूँ; धन, घर, पुत्र, परिवार की वृद्धि हो और अपना हरा–भरा खेत, अर्थात् भरा–पूरा परिवार छोड़कर मरूँ – ऐसी विपरीतभावना ही संसारी जीव भाता है।

'अपूर्व–अवसर' का अर्थ, बाह्य अपूर्व काल नहीं है किन्तु इसका अर्थ आत्मद्रव्य में अपूर्व स्वकाल होता है, जो कि शुद्ध –स्वभाव की परिणति है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टययुक्त है, स्वाधीन है। वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप है; नित्य टिककर परिणमित होती है।

पहले अज्ञानभाव में आत्मा, रागादि परभाववाला होकर अपने को पररूप मानता हुआ परिणमन करता था किन्तु जब यथार्थ सत्समागम द्वारा अत्यन्त पुरुषार्थ से शुद्धात्मा की अन्तरङ्ग प्रतीति की, तब स्वभाव में परिणमन हुआ। वह परिणमन ही इस आत्मा की शुद्धअवस्था का काल है, वही 'स्वकाल' कहलाता है। यद्यपि आत्मज्ञान द्वारा स्वभाव का भान रहता है किन्तु जब तक पूर्ण

शुद्धपर्यायदशा प्रगट नहीं होती, तब तक उसे पूर्ण करने के लिए स्वरूप के भानसहित यह भावना है।

'अपूर्व' शब्द में अनेक अर्थ गर्भित हैं; इसलिए इस 'अपूर्व' माङ्गलिक शब्द से भावना का प्रारम्भ किया गया है। पहले अनुत्पन्न अपूर्व स्वभावकाल कैसे आयेगा? – इस मनोरथ को साधक साधता है। मनोरथ होने में मन तो निमित्त है किन्तु ज्ञान द्वारा उसको अस्वीकार करके साधकजीव, स्वरूप चिन्तन की जागृति का उद्योत करता है। उसे स्वरूप की भावना, अर्थात् मनोरथ का प्रवाह चलता है, उसके साथ स्वभावपरिणति का प्रवाह भी चलता है। उस भावना में मन का निमित्त है तथा राग का अंश है, उससे विचार का क्रम होता है और तब लोकोत्तर पुण्य का बन्ध सहज ही हो जाता है किन्तु प्रारम्भ से ही उसकी अस्वीकारता है। उसे भेदों और विकल्पों का आदर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय भावमनोरथ स्वरूप का चिन्तवन है। तत्त्वस्वरूप की भावना विचारते हुए अपने मन का निमित्त आता है।

पूर्ण शुद्धात्मस्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है – ऐसा अपना स्वरूप लक्ष्य में रखकर पूर्णता के लक्ष्य से श्रीमद्, आत्मस्वरूप की भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थदशा, स्वरूपस्थिति का अपूर्व अवसर कब होगा? – ऐसी अपने स्वभाव की भावना है।

मैं कब अन्तरङ्ग–बहिरङ्ग निर्ग्रन्थ होऊँगा, अर्थात् अभ्यन्तर राग–द्वेष की ग्रन्थि से और बाह्य में स्त्री, धन और कुटुम्ब आदि से निवृत्त होऊँ – यह भावना भाता है।

अहो! वह वीतरागदशा धन्य है! वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य

है !! वह पूर्ण दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधकदशा धन्य है !!!

सर्व सम्बन्धों का बन्धन तीक्षण छेदकर – शारीरिक, मानसिक तथा द्रव्यकर्म का सम्बन्ध / मोह छोड़कर मुनिदशा प्रगट करूँ। आत्मा, अबन्धस्वरूप है, उसके ज्ञान की स्थिरता को सूक्ष्म रीति से जानकर, मैं भेदज्ञान द्वारा कर्मोदय की सूक्ष्म सन्धि को नष्ट करूँ – ऐसी यह भावना है। आत्मस्वरूप के भान द्वारा रागरहित ज्ञान में स्थिरता होते ही अनादि सन्तानरूप संसारवृक्ष की मूल राग–द्वेष की गाँठ छिन्न–भिन्न होकर नष्ट हो जाती है।

महान् पुरुषों के मार्ग में कब विचरूँगा – संसार में स्वच्छन्दी लड़का इच्छा करता है कि कब मेरा पिता मरे और मैं सब अधिकार तथा कारोबार कब्जे में करूँ। उससे विपरीत इस लोकोत्तरमार्ग का साधकजीव यह भावना भाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान–दर्शन–चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में प्रवर्तन के लिए तीर्थङ्कर भगवान कब मिलें और कोई महान् बुद्धिमान निर्ग्रन्थ जिस पन्थ में, आत्मस्वरूप में विचरते हैं, उस पन्थ में मैं वीतराग कुल की टेक, अर्थात् मर्यादानुसार कब विचरुँगा ? यह सनातन शाश्वत् आत्मधर्म का सद्भूतव्यवहार है।

अनन्त ज्ञानी पुरुषों ने जिस पन्थ में विचरण कर मोक्षपद को प्राप्त किया, उसी पन्थ में मैं कब विचरूँगा ? – इस भावना में अनन्त ज्ञानी भगवन्तों के प्रति विनय व्यक्त किया गया है। साधक को अपनी पतितअवस्था का भी ज्ञान है क्योंकि उसे असीमित सामर्थ्यवाले ज्ञान की पहिचान हुई है किन्तु अभी प्रगट नहीं हुआ है – ऐसा वह जानता है। यह पुराणपुरुष (सत्पुरुष) की आराधना

है। इसमें कितनी निर्मलता है! अपने आत्मधर्म का विकास हुआ है; इसलिए साधक, अनन्त ज्ञान का बहुमान करता है, वह परमार्थ का आदर है।

श्रीमद् राजचन्द्र, सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए कहते हैं :-

'हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन, स्वरूप की खोज में इस पामर को परम उपकारक हुए हैं; इसलिए मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।'

हे वीतराग जिन! आपको अत्यन्त भक्ति से नमस्कार करता हूँ। इस पामर के प्रति आपने अनन्त-अनन्त उपकार किये हैं। इस प्रकार गुणों का बहुमान, सत्कार, विनय किया है; उसमें परमार्थ से अपने गुणों का आदर है। श्रीमद् ने एक डेढ़ पंक्ति के चरण में लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्य, आत्मस्वरूप में बहुत दृढ़ता से स्थित थे।

विचरूँगा कब महत्पुरुष ने पंथ जब - यहाँ प्रथम अरहन्त प्रभु सर्वज्ञदेव हैं; वे प्रथम महापुरुष हैं तथा दूसरे महापुरुष आचार्य, साधुवर्य, मुनिवर हैं। संसार की जाति-पाँति छोड़कर सन्तों-मुनिवरों की चैतन्यजाति / साधक अवस्था में (आत्मस्थ स्थिति में) रहना ही है; इसलिए साधक धर्मात्मा यही भावना भाता है कि इन महामुनियों के मार्ग में कब विचरूँगा, अनागारमार्ग को कब अपनाऊँगा?

इस प्रकार इस पहले काव्य में कहा है कि ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा? ●●

काव्य - 2

सर्व भावथी औदासिन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो॥
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवेश॥

उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किञ्चित भी मूर्छा नहिं होय जब।
अपूर्व.........॥

काव्य - 2 पर प्रवचन

पहले काव्य में अपूर्व अवसर की, बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थपने की ओर सब सम्बन्धों के बन्धन को तोड़ने की भावना भायी। अब, आगे बढ़ते हैं।

उदासीनवृत्ति हो सब परभाव से... अर्थात् सर्व भाव का साक्षी; सर्वत्र अकर्तापन; क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता, पर से उदासीन है। जगत् के सब परभावों से भिन्न होकर स्वसन्मुख होने में प्रयत्नशील रहते हुए ऊँचे भाव में आसीन होना-बैठना, यह सत्यार्थरूप से संसार से अनासक्तदशा है।

सुख की सहेली है अकेली उदासीनता।
अध्यात्म की जननी है यही उदासीनता॥

यह कथन अठारह वर्षीय श्रीमद् द्वारा किया गया है। उदासीनता, अर्थात् मध्यस्थता, समभावदशा; वह अध्यात्म की जननी है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है। तीर्थङ्कर का पुण्य, इन्द्र-चक्रवर्ती के पुण्य की ऋद्धि, स्वर्ग का सुख – ये सब सांसारिक उपाधिभाव हैं; इसलिए ज्ञानी की सब परभावों से उदासीनवृत्ति है।

जो कुछ पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) वृत्ति, ज्ञान में दिखायी पड़ती है, वह सब मोह की विकारी अवस्था है। उन सब परभावों से ज्ञानी की उपेक्षावृत्ति है। वह दूसरे से राग-द्वेष, सुख-दुःख नहीं मानता। अपनी निर्बलता से राग होता है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता। ज्ञानी के ज्ञान में संसारभाव (शुभ-अशुभभाव) का आदर नहीं है।

कोई प्रश्न करे कि मुनि होने पर सब कुछ छूट जाता है क्या? क्या संसारी वेष में मुनिभाव नहीं आता या वस्त्रसहित मुनि नहीं हो सकता क्या? क्या त्यागी होने पर ही मुनित्व प्रगट हो सकता है? इन सब शङ्काओं का समाधान इसमें किया गया है।

ध्रुवस्वभाव के आलम्बन के बल से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान – इन तीन जाति के चतुर्कषायों का त्याग होते ही राग के सब निमित्त सहज ही छूट जाते हैं; इसलिए मुनि के केवल देह रहती है। यह सम्यग्ज्ञानसहित नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनिदशा की भावना है। जितना राग छूटे, उतना राग का निमित्त भी छूट जाता है – यह नियम है। मुनिपना, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साधकदशा। जब सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है, वहाँ महान् पवित्र वीतरागदशा और शान्तमुद्रा होती है। अहो! आत्मा में अनन्त ज्ञान, वीर्य की शक्ति है।

आठ वर्ष के बालक को केवलज्ञान हो जावे और करोड़ वर्ष पूर्व की आयु रहे, तब तक शरीर नग्न रहे और महापुण्यवन्त परम औदारिकशरीर बना रह सकता है – ऐसा प्राकृतिक त्रैकालिक नियम है। मुनि अवस्था में मात्र देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देह के प्रति ममत्व नहीं है। केवली भगवान को देह सम्बन्धी रोग, आहार-निहार, उपसर्ग, क्षुधा-तृषादि अठारह दोष कभी भी नहीं होते।

यह तन केवल संयम हेतु होय जब – ज्ञानियों को संयम के हेतु से, देह को उसकी स्थिति पर्यन्त टिकना है। मुनि को छद्मस्थदशा में राग है, तब तक शरीर के निर्वाह के लिए नग्न शरीर साधक है

किन्तु फिर भी शरीर की कुशलता के लिए साधु को ममत्व नहीं होता – यह बात यथास्थान की गयी है; इसलिए मुनित्व की भावना और मुनि का स्वरूप कैसा हो ? – यह जानना प्रयोजनभूत है।

देह को उपचार से संयम का उपकरण कहा है। मुनि को एषणासमितिपूर्वक निर्दोष आहार की वृत्ति होती है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय–कषाय के पोषण के लिए नहीं होती, अपितु संयम के लिए होती है। संयम में इन्द्रिय–मन (अतीन्द्रिय शान्ति में ठहरनेवालों को) निमित्तरूप होता है। इसका मूलकारण आत्मस्वभाव की आलम्बनरूप स्थिरता है। सहज स्वाभाविक आत्मज्ञान में ठहरना ही आत्मस्वभाव की स्थिरता है।

किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं, – अर्थात् अन्य किसी अपवाद से भी बाह्य वस्त्रादि निमित्त, साधु अवस्था में स्वीकार्य नहीं है, यह इसमें बताया है। इसलिए स्वाभाविक (प्राकृतिक) सिद्धान्त से निश्चित हुआ कि जिसकी आत्मा, स्वयं सहजरूप में वर्तती है – ऐसे साधक के बहिरङ्ग निमित्तमात्र देह होती है किन्तु मुनि के उसका आश्रय नहीं है।

पूजा–सत्कार के लिए या देह को सुन्दर दिखाने के लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि अवस्था में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं है। जब तक पूर्ण वीतराग स्थिति प्रगट नहीं होती, तब तक अल्प राग होता है; इसलिए निर्दोष आहार लेने की वृत्ति होती है किन्तु उस वृत्ति का स्वामित्व उनके नहीं है। जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैन मुनि के वस्त्र नहीं होता।

तन में किञ्चित् भी मूर्छा नहीं होय जब – ऐसी मुनिदशा

में अंशमात्र भी देह में आसक्ति या ममता नहीं होती। कोई कहे कि केवलज्ञान होने के बाद आहार होवे तो ? – यह बात झूठी है। सातवें गुणस्थान में ध्यान–समाधिदशा है, उसमें आहार की वृत्ति नहीं होती तो उससे ऊँची भूमिका में (सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में) आहार की वृत्ति कैसे हो ?, अर्थात् नहीं ही होती। जिनशासन में / मोक्षमार्ग में मुनि की कैसी दशा हो ? – यह यहाँ बताया है।

चारित्रभावना (मनोरथ) द्वारा पुरुषार्थ की प्रगटता होने से गृहस्थपना छोड़कर मुनिपना ग्रहण करने का विकल्प आता है। 16 वें–17 वें–18 वें तीर्थङ्कर भगवान, चक्रवर्ती पदवीधारक थे। वे भी गृहस्थदशा में भगवती जिनदीक्षा की भावना भाते थे और उस भावना के परिणामस्वरूप संसार छोड़कर मुनित्व अङ्गीकार कर, जङ्गल में नग्न दिगम्बर होकर चल पड़े। जिनकी सोलह हजार देव सेवा करते थे और जिनके बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा चँवर करते थे – ऐसे छह खण्ड के अधिपति भी मुनि होकर जङ्गल में चले गये। उनके देह की ममता तो पहले से ही नहीं थी किन्तु कमजोरी से जितना चारित्रमोह का राग रहता है, वे उसके विकल्प को भी तोड़कर दिगम्बर अवस्था में सातवें गुणस्थान (साधक–भूमिका) में प्रवेश करते हैं और उस समय उनके चतुर्थ मन:पर्ययज्ञान प्रगट होता है। वे स्वरूप के साधन से अपने ही अपरिमित आनन्दस्वभाव को देखते हैं; इसलिए धर्मात्मा की देह पर दृष्टि (ममत्वभाव) सहज ही दूर हो जाती है। वे देह में प्रतिकूलता होने पर भी दु:ख का अनुभव ही नहीं करते।

'यथाजात', अर्थात् जन्म समय जैसा शरीर होता है, वैसे ही शरीर की स्थिति मुनि की साधकदशा में होती है। उस साधकदशा में अठाईस मूलगुण सहज निमित्त होते हैं। वह मुनित्व (निर्ग्रन्थ साधकदशा) हो, तब उनकी मुद्रा गम्भीर, निर्विकारी, वीतराग, शान्त, वैराग्यवन्त और निर्दोष होती है। ऐसे गुणों के भण्डार मुनि का शरीर निर्विकारी नग्न बालक की तरह होता है। मुनि आत्मसमाधिस्थ परम पवित्र ज्ञान में रमण करते हैं।

मुनिराज को छठवें गुणस्थान में आहार लेने का विकल्प होता है। वहाँ आहार लेने की वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्च्छा (मोह) या लोलुपता नहीं है। मुनि, शरीर के राग के लिए नहीं, किन्तु संयम के निर्वाह के लिए एक ही समय आहार-जल हाथ में लेते हैं। आहार करते समय मुनि को आहार का लक्ष्य नहीं, किन्तु पूर्ण कैसे होऊँ? - यही लक्ष्य है। उनकी निरन्तर जागृतदशा है।

पूर्णता की स्थिति कब आवेगी? - इस भावना में ही शुद्धता का अंश निहित है। जिन-आज्ञा और वीतरागदशा का यथार्थ विचार ही यह भावना है, वह शुद्धभावना का कारण है। यदि कारण में कार्य का अंश न हो तो उसे वीतरागदशा का 'साधककारण' संज्ञा नहीं मिल सकती। ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब हो, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? यही उच्च भावना यहाँ की गयी है।

स्वकाल का अर्थ 'स्वसमय' है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसारग्रन्थ के पहले कलश में 'समय' का अर्थ 'आत्मा' बताया है और उसमें 'सार' जो द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहित शुद्धात्मा है, उसे नमस्कार किया है। यहाँ यह भावना की गयी है कि पूर्ण शुद्धअवस्था शीघ्र प्रगट हो।

श्रीमद् राजचन्द्र, सम्यग्दृष्टि और आत्मानुभवी थे; इसलिए मुनित्व की भावना भाते हैं। जैसे, पूर्ण असङ्ग निरावरण आत्मस्वरूप का लक्ष्य किया है, वैसे ही पूर्णता के लक्ष्य से 'परमपद प्राप्ति' का उपाय क्या ? – यह वे विचार करते हैं। यहाँ पूर्ण 'समयसार' साधने की भावना व्यक्त की गयी है। ●●

अहा! ऐसी दशा हमें कब प्रगट हो ?

स्वभाव में से विशेष आनन्द प्रगट करने के लिए मुनिराज जङ्गल में बसते हैं। जिन्होंने शुभाशुभ विभाव और पर्याय की रुचि छोड़कर अभेद ज्ञायक की रुचि प्रगट की है, उन्हें ज्ञायक में विद्यमान सर्वशक्तियों का निर्मल अंश एक साथ व्यक्त हो गया है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य इत्यादि अंशों के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का अंश भी व्यक्त हुआ है। सम्यग्दर्शन होने पर आनन्द सागर ध्रुव चैतन्य के आश्रय से जो आनन्द अंश प्रगट हुआ है, उसमें अतिशय वृद्धि करने के लिए मुनिराज, घोर जङ्गल में बस अकेले आनन्दमूर्ति ज्ञायक में ही बस रहे हैं। स्वभाव में से विशेष-विशेष स्वरूपानन्द प्रगट करने के लिए मुनिराज, जहाँ सिंह गरजते हैं, नाग फुफकारते हैं - ऐसे एकान्त निर्जन जङ्गल में जा बसे हैं। अहा! ऐसी दशा हमें कब प्रगट हो, सम्यग्दृष्टि को यह भावना होती है।

(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/114)

काव्य - 3

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे।
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

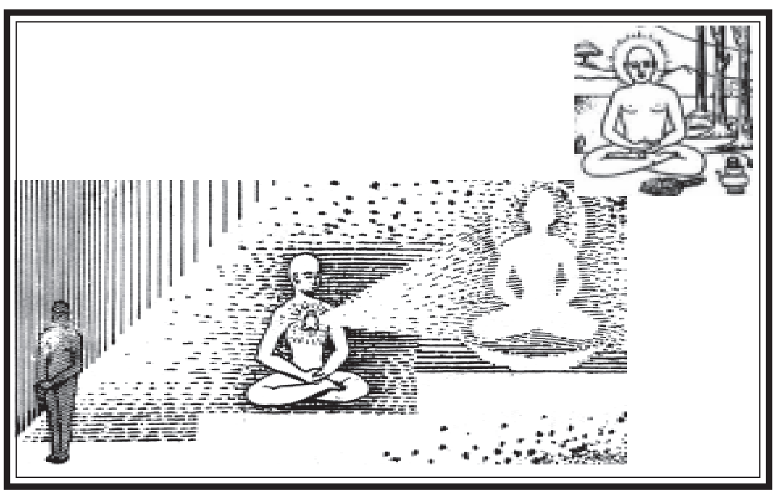

दर्श मोह क्षय से उपजा है बोध जो।
तन से भिन्न मात्र चेतन का ज्ञान जब॥
चरित्र-मोह का क्षय जिससे हो जायेगा।
वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य – 3 पर प्रवचन

आत्मा के अभिप्राय में भ्रान्ति, अर्थात् पुण्य–पाप–रागादि शुभाशुभपरिणाम को अपना मानना, उन्हें आदरणीय मानना, दर्शनमोह है। आत्मा अपने को भूलरूप मानता है; इसलिए पर का कर्ता –भोक्ता–स्वामी हूँ – यह कल्पना करता है। निश्चय से आत्मतत्त्व सदा अतीन्द्रिय ज्ञानमय पूर्ण असङ्ग है, उसका अबन्धस्वभाव है, वह पर के बन्धनरहित है। वस्तुस्वभाव ऐसा होते हुए भी ऐसा न मानकर, मुझमें जड़कर्म के निमित्त का बन्धन है; मैं पुण्यादि युक्त हूँ; राग हितकर है; शुभपरिणाम मेरा कर्तव्य है; इस प्रकार परभाव में एकत्वबुद्धि होना, वह दर्शनमोह है। एक आत्मतत्त्व को अन्य तत्त्व के साथ एकरूपवाला, उपाधिवाला, बन्धनवाला मानना, दर्शनमोह है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है। वह कभी भी स्वभाव से भूलरूप नहीं होता। मोहकर्म की एक जड़प्रकृति का नाम दर्शनमोह है, वह तो निमित्तमात्र है। जीव, अज्ञान अवस्था में रहे, तब तक अपने को अन्यथा मानता है, पर से अपना भला होना मानता है किन्तु वह कभी किसी प्रकार से पर का कर्ता–भोक्ता नहीं हो सकता।

यह भूल दूर हो सकती है क्योंकि भूल उसका मूलस्वभाव नहीं है किन्तु पर्याय है। भूल होने में उपाधिरूप निमित्तकारण अन्य होना चाहिए; इसलिए विकारी अवस्था में पर निमित्त होता है। निमित्त तो परवस्तु है – ऐसी यथार्थता से परवस्तु की अवस्था का भेदज्ञान नहीं होने के कारण, वह पर से अपने को अच्छा–बुरा मानता है; अपने को पररूप और पर को अपनेरूप मानता है। स्वयं

रागी, द्वेषी, मोही बनता है, उनका निमित्त पाकर नये रजकण बँधते है किन्तु जिस समय जीव, ज्ञानभाव द्वारा अज्ञान अवस्था का अभाव करता है, उस समय दर्शनमोह नष्ट हुआ और ज्ञान प्राप्त हुआ – ऐसा कहा जाता है। पर को स्व-रूप मानने में यह दर्शनमोहकर्म निमित्तरूप है, उसका नाश किया है – ऐसा यहाँ कहना है।

शक्तिरूप में जीव का स्वभाव शुद्ध है, पर्याय में अभी तो शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है, उसे पूर्ण करने की भावना है। जैसा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है, वैसा ही आत्मा है – ऐसा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी दीर्घकालीन आशा नहीं है। आत्मज्ञान प्रगट हुआ है, वह क्या है– यह बतलाते हैं।

तन से भिन्न चैतन का ज्ञान जब – आठ कर्मों के रजकण, अर्थात् द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से भिन्न, केवल आत्मा शुद्ध है। जैसे, नारियल में गिरी का गोला भिन्न जाना जाता है; वैसे ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष ज्ञान में चिद्घन आत्मा निःसन्देहरूप से भिन्न जाना जाता है। आत्मा, पर से सर्वथा भिन्न निराला है – ऐसे केवल शुद्ध आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान, साधक अवस्था में वर्तता है। ऐसा भान है, वह सम्यग्दर्शन है; वह चौथी भूमिका (चौथा गुणस्थान) है। वहाँ आंशिक जिनदशा प्रगट है, उसे जैनदर्शन की इकाई कहा है।

जिसे सम्यक् अभिप्राय का भान हुआ, उसके साथ असङ्गता का पुरुषार्थ भी होगा ही। कभी हीनाधिकरूप से हो, किन्तु उसकी अब स्वसन्मुख ही परिणति होती है। केवल चैतन्य का भान है,

उसमें परमाणुमात्र का भी सम्बन्ध नहीं है; परनिमित्त की तरफ की रुचि से होनेवाला विकार नहीं है। उसके अभिप्राय में ऐसी निःशङ्क श्रद्धा है कि पूर्ण मुक्तपरमात्मासमान अकेला आत्मा भिन्न है; बन्ध या उपाधि, आत्मा का स्वभाव नहीं है – ऐसा होते हुए भी, आत्मा को दयावान, पुण्यवान, पर का कर्ता, भोक्ता तथा शुभाशुभ बन्धयुक्त मानना, मिथ्यादर्शन नामक शल्य है। कोई परमार्थ तत्त्व से रहित होकर स्वच्छन्द आचरण करे, उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। ज्ञानी को प्रत्यक्ष अनुभवरूप सम्यग्ज्ञान प्रमाण है; इसलिए सहज एकरूप अवस्था (पर से भिन्न) आत्मस्वरूप में अभेद है – ऐसा लक्ष्य उसे निरन्तर रहता है।

आत्मा का एक भी गुण, परमाणु में मिल नहीं गया है तथा चेतनगुण में निमित्त का प्रवेश नहीं है – ऐसा अनुभवदशा के ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ की जागृतियुक्त ज्ञानी कहते हैं। स्वरूप की पूर्ण स्थिरता हो जाए तो ऐसी उत्कृष्ट साधक स्वभाव की भावना भाने की आवश्यकता नहीं रहे, किन्तु चारित्रगुण अपूर्ण है; इसलिए चारित्रमोह कर्म के उदय में थोड़ा जुड़ना होता है, लेकिन वह विघ्न है – ऐसा जानता है। जितने अंशों में कर्म की तरफ अपने को प्रवृत्त करे, उतने अंशों में विघ्नरूप बाधकभाव है।

चारित्रमोह का क्षय जिससे हो जाएगा – इस पंक्ति में श्रीमद् ने कहा है कि चारित्रमोह विशेषरूप से क्षीण होता जाता है, उसे देखिए। सम्यक् बोध द्वारा शुद्धस्वरूप का ज्ञान होने से साधक स्वभाव प्रगटता है, किन्तु उसमें अस्थिरता कितनी दूर हुई और कितनी है ? यह निश्चित करके, स्थिरता द्वारा चारित्रमोह को क्षय

करने के लिए पुरुषार्थ बढ़ाता है और ज्ञान की स्थिरता बढ़ने से चारित्रमोह विशेषरूप से क्षीण होता जाता है – ऐसी दृढ़ता स्वानुभव में होती है, इसी का नाम 'विलोकना' है।

आत्मा का भान होने के पश्चात् चारित्रमोह 'प्रक्षीण', अर्थात् विशेष रीति से क्षय होता है। यहाँ उपशम का प्रकरण नहीं है। जो अप्रतिहत, धाराप्रवाही ज्ञानबल की जागृति से आगे बढ़े, उसके उपशम नहीं, किन्तु क्षय करने का बल रहता है। अग्नि को राख से ढ़ँके, उस प्रकार के उपशम की यहाँ चर्चा नहीं है किन्तु पानी से उसे बुझा दे – ऐसे चारित्रमोह के क्षय की भावना यहाँ की गयी है।

आत्मा, ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध है, उसके भान में रहकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्रगट अवस्था में स्थिरता बढ़ाऊँ; राग-द्वेष का नाश होता हुआ देखूँ, ऐसा, और मेरे स्वरूप का विकास होने से विशेष निर्मल अवस्था देखूँ – ऐसा इस पंक्ति में कहा है। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति इत्यादि चारित्रमोह की अवस्था यहाँ घटती जाती है।

वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब – इसका अर्थ यह है कि परमाणुमात्र से मेरा सम्बन्ध नहीं है; इसलिए राग, द्वेष, पुण्यादि अस्थिरता का भी सम्बन्ध ज्ञान में नहीं है – ऐसा मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ। निर्धूम अग्नि का अङ्गारा केवल अग्निमय ही प्रज्वलित रहता है – ऐसी चैतन्यज्योति है। उसे पहिचानकर, देखकर ज्ञानदशा में स्थिर / एकाग्ररूप से (ज्ञान में ही) ज्ञाता बना रहे तो क्रमशः सब कर्म क्षय हो जाए और द्रव्यस्वभाव में पूर्ण, शुद्ध, पवित्र, निर्मलरूप

जैसा आत्मा है, वैसा ही अवस्था / पर्याय में निर्मल शुद्ध हो जाए; केवलज्ञान में पर्याय उत्कृष्ट शुद्धतारूप परिणमती है – ऐसा परमात्मस्वभाव प्रगट हो जाए। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा, अर्थात् स्वसमय स्थिति कब आयेगी ? – यही भावना यहाँ की गयी है। ●●

केवलज्ञान के निकट खड़े हैं मुनिराज

भाई! सुन तो सही, मुनि के तो हम दासानुदास हैं, परन्तु उनमें सच्चा मुनिपना होना चाहिए। अहा! मुनिदशा अर्थात् क्या? भाई! मुनि तो परमेश्वरपद की केवलज्ञान भूमिका के निकट आ गये हैं। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप धारावाही परिणमन प्रगट हुआ हो, उसे मुनि कहते हैं। अहा! धन्य अवतार! धन्य जीवन! ऐसे मुनि को कौन नहीं मानेगा? यहाँ कहते हैं कि ऐसे अगाध शक्तिवान चैतन्यचक्रवर्ती को ग्रहण कर, उसका अन्तर में उग्र आश्रय कर तो सच्चा मुनिपना प्रगट होगा।

(- गुरुदेवश्री के वचनामृत, पृष्ठ 311)

काव्य - 4

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अन्त जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

आत्मलीनता मन-वचन-काया योग की,
मुख्यरूप से रही देह पर्यंत जब।
भयकारी उपसर्ग परिषह हो महा,
किन्तु न होवे स्थिरता का अन्त जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य – 4 पर प्रवचन

इस पद में श्रीमद्‌जी ने ज्ञानसहित पुरुषार्थ की धारा व्यक्त की है और ये 21 पद अविराम एक साथ लिखे गये हैं। इस ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता और उस समय की विरलदशा कैसी होगी ? अपूर्व साधना का संस्कार कैसा होगा ? इस प्रकार की परम आश्चर्यकारी सद्‌विचार श्रेणी हो, तब कैसा परमार्थरूप काम हो सकता है ? – ऐसे गम्भीर ज्ञान का विचार करो। क्या ऐसी अपूर्व बात किसी अन्य के पास से आ सकती है ? अरे ! जिनकी बुद्धि मताग्रह से मोहित है, उनको सत्य की प्राप्ति नहीं होती।

लोग मध्यस्थभाव से तो विचार नहीं करते और केवल निन्दा करते हैं कि श्रीमद् ने अपने आपको पुजाने के लिए यह काव्य लिखा है किन्तु ऐसा कहनेवाले अपनी आत्मा में भयङ्कर अशातना करते हैं। भाई ! उनका गृहस्थवेष देखकर विकल्प में नहीं पड़ना चाहिए।

– ऐसी अपूर्वभावना की वाणी का अपूर्वयोग कोई लावे तो ? तोता रटन्त से यह सम्भव नहीं है। जिनके सहजपुरुषार्थ की धारा प्रगट हो, उसको कोई नहीं कहता कि तुम इस समय अपूर्व अवसर की भावना का अन्तर्गत काव्य लिखो, किन्तु जिसके जिनदीक्षा (भगवती दीक्षा) का बहुमान हुआ, वहाँ आत्मा अन्तरङ्ग से ध्वनि करती हुई स्थिरतारूप पुरुषार्थ की माँग करती है। वह निवृत्ति, वैराग्यप्रवृत्ति धारण करने का पुरुषार्थ होता है कि सर्वसङ्गविमुक्त जैसा हूँ, वैसा बनूँ। श्रीमद् ने इस प्रकार मुनित्व की भावना की है।

वे घर में हैं या वन में ? – यह प्रश्न ही नहीं है। पूर्ण स्थिरता की दृष्टि पुकारती है कि अब मैं कैसे पूर्ण होऊँ ? वर्तमान काल में केवली भगवान का इस क्षेत्र में अभाव है, वह विरह दूर होकर पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति का अपूर्व अवसर कैसे आवे – यह भावना की है।

कोई कहे कि श्रीमद् व्यापार करते थे, धनसंग्रह करते थे किन्तु हे भाई ! बाह्यदृष्टि द्वारा इन पवित्र धर्मात्मा के हृदय को परखना कठिन है क्योंकि वे गृहस्थवेष में थे; इसलिए साधारण जीवों को उनके अन्तर की उज्ज्वलता देखना बहुत कठिन पड़ता है। समाज में स्वच्छन्दता आदि का जोर था, उसमें सत्य बात किसे कहने जाए ? **उनके अन्तर में सर्वज्ञ ज्ञानी का मोक्षमार्ग था किन्तु वे तत्कालीन समाज को देखकर अधिक प्रगट में नहीं आये। लोगों का पुण्य ही ऐसा नहीं था, इसमें दूसरा क्या हो सकता है ? काल की बलिहारी है ! उस समय लोग इस प्रकार की बात सुनने को तैयार नहीं थे। उस काल की अपेक्षा यह काल अच्छा है क्योंकि हजारों भाई और बहनें प्रेम से इस वार्ता को सुनते हैं। परीक्षापूर्वक अपनी पात्रता से सत्य समझते हैं – ऐसे बहुत से व्यक्ति तैयार हुए हैं।**

वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थङ्कर भगवान विराजमान हैं, वहाँ सनातन दिगम्बर वीतराग शासन विद्यमान है। हजारों–लाखों सन्त–मुनियों के संघ हैं। वह क्षेत्र, काल, और वहाँ उत्पन्न होनेवाले धन्य हैं ! यह विरह किसको कहें ? श्रीमद् ने ऐसे महत्पुरुष सर्वज्ञ भगवान के विरह को जानकर ऐसी भावना की

थी। कहा भी है कि –

> **'भरतक्षेत्र मानवपना रे पाया दु:षमकाल,**
> **जिन पूर्वधर विरह से रे दुर्लभ साधन चालो रे।**
> **चन्द्रानन जिन सुनो न अरदास'**

हे नाथ! हे भगवान! इस भरतक्षेत्र और इस पञ्चम काल में आपका विरह हुआ, पूर्वधारी और श्रुतकेवलियों का भी इस काल में विरह है। इस विरह में भी कर्मसम्बन्ध को दूर करने के लिए यह भावना की गयी है। यहाँ साधक, निश्चय से अपने चन्द्रानन भगवान को याद करके विनती द्वारा अपने भाव को प्रस्तुत करता है। उस समय मनसम्बन्धी राग का जो अंश है, उसमें मन्द कषाय की भी रुचि नहीं होने से लोकोत्तर पुण्य सहज ही बँध जाता है किन्तु उसकी प्रारम्भ से ही अस्वीकारता है। उस पुण्य के फल में इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद भी सहज ही मिल जाते हैं।

भविष्य में तीर्थङ्कर भगवान के चरण–कमलों में जाकर निर्ग्रन्थ–मार्ग का आराधन करने के लिए मुनिपना अङ्गीकार कर मोक्षदशा प्रगट करने की यह भावना है। इस काल में वीतराग–सर्वज्ञ का योग नहीं है किन्तु सर्वज्ञ–शासन (वीतरागी धर्म–आत्मधर्म) का यह निर्ग्रन्थमार्ग अनादि सत्पथ है, सनातन है और सदा रहेगा — ऐसी भावना, पूर्ण शुद्धात्मा की प्रतीति, लक्ष्य और स्वानुभवसहित है। पूर्ण साध्य की प्राप्ति के लिए नग्न मुनिदशासहित निश्चयचारित्र अङ्गीकार करना चाहिए।

प्रश्न : गृहस्थवेष में केवलज्ञान और मुनिपना प्रगट होने में क्या बाधा है?

उत्तर : यह बात असत्य है क्योंकि बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा प्रगट होने पर अभ्यन्तर पुरुषार्थ से तीनों कषायों का नाश होने से बाह्य निमित्त (परिग्रह) का त्याग सहज ही होता है। गृहस्थवास में कषाय का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता; इसलिए सच्चा मुनिपना होने के लिए नग्नत्व, अर्थात् वस्त्ररहितपना होना ही चाहिए।

तीसरे काव्य में, दर्शनमोह दूर होने पर देहादि से भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान होता है – ऐसा कहा है और ज्ञानी के शुद्धात्मबोध-सहित ज्ञान की एकाग्रता द्वारा हास्य, शोक, रागादि, अस्थिरता और चारित्रमोहकर्म के उदय का अभाव होता है। ऐसा होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है और तत्पश्चात् बारम्बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आता रहता है। ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प छूटकर ज्ञान की समाधिस्थदशा, ध्यान की स्थिरतारूप सातवीं भूमिका (मुनिपना) कैसे प्रगटे; इसकी यहाँ भावना की गयी है।

आत्मस्थिरता, अर्थात् तन-मन-वचन के आलम्बनरहित स्वरूप की मुख्यता जिसमें हो – ऐसी स्थिरता; देह का अन्त हो, तब तक रहे – यह भावना की गयी है। जहाँ सातवाँ गुणस्थान है, वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प न होने से निर्विकल्पदशा है। मुनि अवस्था में छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक तन, मन और वचन का शुभयोग, पञ्च महाव्रत के शुभविकल्पादि रहते हैं, फिर भी मुख्यरूप से अन्तर रमणता रहे, आत्मबल के द्वारा स्वरूप में लक्ष्य रहे – ऐसी भावना बार-बार होती है।

परिषह भयकारी हो महा – शुभाशुभविकल्परहित आत्मस्थिरता होती है। शुद्धस्वभाव में एकाग्रता इस प्रकार की हो

कि घोर परीषह आवें तो भी उनके प्रति अरति या खेद न हो। घोर परीषह आवे, फिर भी वे मेरी स्थिरता को नहीं डिगा सकते – ऐसी भावना है। छह-छह महीने तक आहार-पानी न भी मिले, तीव्र सर्दी हो तो भी उसका विकल्प नहीं आवे; भयङ्कर ताप होते हुए भी यह भय न हो कि मुझे इससे दु:ख होगा। यदि बाहर से सूर्य प्रखर हो और ताप (गर्मी) भीषण हो तो मुनि को उग्र पुरुषार्थ प्रस्फुटित होकर स्थिरता शीघ्र बढ़ जाती है। उग्र साता-असाता के निमित्त भले ही आवें, किन्तु मेरी आत्मस्थिरता का अन्त न आवे; इस प्रकार अपनी निश्चलस्वरूपसमाधि की साधकदशा जयवन्त-जयशील वर्तती रहे। जिन पुरुषों ने विरुद्ध प्रसङ्गों में भी निश्चलदशा द्वारा परम आश्चर्यकारी संयम-समाधि धारण की है, वे धन्य हैं। चाहे जितने प्रतिकूल संयोग हों, किन्तु ज्ञानी उनको बाधक नहीं मानता।

उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं – देवकृत अथवा व्यन्तरकृत, तिर्यञ्चकृत, मनुष्यकृत, और अचेतनकृत। कमठ ने पार्श्वनाथ भगवान को मुनिदशा में उपसर्ग किया और महावीर भगवान को भी मुनिदशा में उपसर्ग हुए थे किन्तु उन दोनों को क्षोभ नहीं हुआ था। ऐसे ही प्रत्येक धर्मात्मा मुनि, आत्मस्थिरता में अडोल रहते हैं। घाणी में पेले जाने पर भी उन्हें स्वरूप की स्थिरता को छोड़ने का विकल्प नहीं आता। 'मैंने बहुत सहन किया' – ऐसा विकल्प भी नहीं आता और जो कदाचित् ऐसा समझे कि 'मैंने बहुत सहन किया' तो उसको सम्यग्ज्ञान ही नहीं है।

सामान्य लोग अध्ययन, श्रवण, मनन नहीं करते और निवृत्ति लेकर ऐसी अपूर्वभावना भी नहीं करते। श्रीमद् यहाँ स्वरूप की

स्थिरता का चिन्तन करते हैं; इस रूप में वे अपने भाव व्यक्त करते हैं। उनके एक-एक शब्द में अपूर्वता है, माङ्गलिक में ही अपूर्वता है। वे अपूर्व साधकदशा (मुनिपर्याय) प्रगट होने की भावना भाते हैं। ●●

मोक्ष के अत्यन्त समीप हैं मुनिराज

देखो, चौथे और पाँचवे गुणस्थान में अभी कर्मचेतना और कर्मफल चेतना होती है, स्वामीपने नहीं, परन्तु वेदनरूप से होती है। मुनि के कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं, उन्हें ज्ञानचेतना है। पुण्य-पाप के भाव को करना, वह कर्मचेतना और हर्ष-शोक को वेदना, वह कर्मफलचेतना है, वह मुनि को नहीं है। इनसे भिन्न निज ज्ञानानन्दस्वरूप के परिणमनरूप ज्ञानचेतना का अनुभव उन्हें होता है। राग का करना और राग का वेदना मुनि को छूट गया है, उन्हें तो अकेले आनन्द का वेदन है। अहा! ऐसे चारित्रवन्त मुनि, मोक्ष के अत्यन्त समीप बर्तते हैं।

(- प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 63)

काव्य - 5

संयमना हेतुथी योगप्रवर्तना,
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितियां,
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

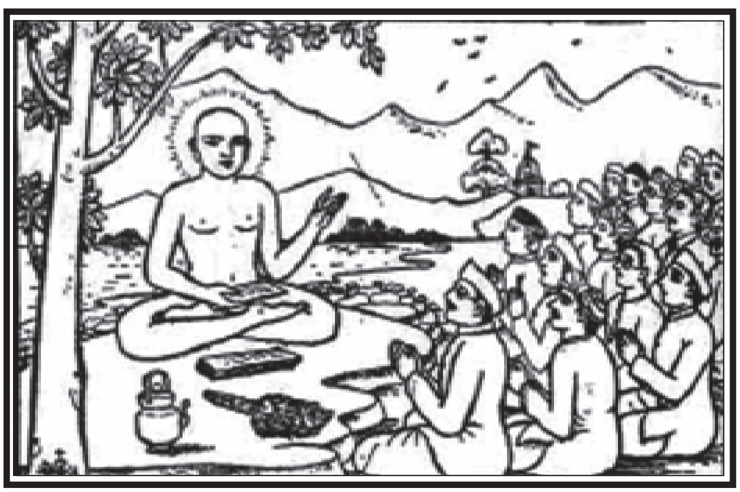

संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो,
निज आश्रय से, जिन आज्ञा अनुसार जब।
वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी,
होऊँ अन्त में निजस्वरूप में लीन जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य - 5 पर प्रवचन

संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो - यह भावना है। इसका अर्थ यह है कि शुभाशुभभाव के अभाव के लिये मुनि-अवस्था में स्वरूप का स्थिरतारूप उपयोग होता है किन्तु जब वे उस स्वरूप में निर्विकल्परूप से स्थिर नहीं रह सकें, तब शुभोपयोग (छठे गुणस्थान) में आते हैं। तब शास्त्रश्रवण, शिष्य को उपदेश, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, आहार-विहारादि के शुभभाव होते हैं, वे भी संयम के हेतुरूप में ही प्रवर्तित होते हैं, अर्थात् उसमें शरीर आदि परद्रव्यों की जो क्रिया होती है, उसमें अपना कर्तृत्व नहीं मानते और शुभभाव को हेय मानते हैं। 'मैं ज्ञाता-दृष्टा, असङ्ग हूँ' - ऐसी दृष्टि से वर्तने का पुरुषार्थ उस समय भी बना रहता है; इसलिए वह शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति, वीतराग भगवान की आज्ञानुसार है - ऐसा कहा है।

मैं पूर्ण अवस्थारूप नहीं हुआ, इसलिए जिन भगवान की आज्ञा का आराधन करने में मेरी प्रवृत्ति होती है क्योंकि वीतराग-चारित्रदशा में निर्दोषतया प्रवर्तन करने का मेरा भाव है और यह भगवती पूज्य दिव्य जिनदीक्षा का बहुमान है। **'णमो लोए सव्व साहूणम्'**, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा में एकत्वरूप से रमण करनेवाले साधु वन्दनीय हैं। अनन्त ज्ञानी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित लोकोत्तरमार्ग (मोक्षमार्ग) में प्रवृत्ति करनेवाले का बहुमान करने का भाव साधक को आये बिना नहीं रहता है।

साधक, सातवीं भूमिका (गुणस्थान) में आराध्य-आराधक तथा 'मैं मुनि हूँ' आदि विकल्प तथा व्रतादि के शुभपरिणामों का

विकल्प छूटकर, स्वसंवेदन में स्थिर हो जाता है; वहाँ वन्द्य-वन्दक भाव नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि छठवें गुणस्थान में मुनित्व के आचार-नियम तथा षट् आवश्यक आदि क्रिया का शुभविकल्प अकषायत्व के लक्ष्य से रहता है।

देखो तो सही! कितनी भावना! भावना करते हुए वीतराग ज्ञानी के प्रति कितनी अनन्य भक्ति रहती है और साधक कहता है कि हे नाथ! मैं जिनेन्द्र भगवान के धर्म की श्रद्धा करता हूँ, उसकी रुचि करता हूँ, उसे अन्तर में जानता हूँ, अनुभवता हूँ और उसकी आराधना करता हूँ। यहाँ जिनाज्ञा के विचारों द्वारा मेरा साधकस्वभाव कैसे बढ़े? - यह भावना है। पूर्ण यथाख्यातचारित्र ही एक उपादेय है। शुभाशुभयोग की प्रवृत्ति मेरा स्वभाव नहीं है, शुभाशुभभाव से हित नहीं होता - ऐसा भान होते हुए भी शुभभाव हुए बिना नहीं रहता। नीचे की भूमिका (गुणस्थान) में पुरुषार्थ में वर्तते हुए निमित्तरूप शुभभाव साथ रहता है।

निज आश्रय से जिन-आज्ञा अनुसार जब - यहाँ गुण प्रगट करने की बात है। जितने अंशों में जिनाज्ञा, विचार आदि का मानसिक आलम्बन छूटता है, उतने अंशों में स्वरूप की स्थिरता सहज ही बढ़ती जाती है और तदनुरूप आज्ञा आदि के आलम्बन का विकल्प भी छूटता जाता है।

वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी - इसका अर्थ यह है कि जैसे ज्ञान में अन्तरङ्ग स्थिरता बढ़ती जाती है, तद्नुसार निमित्त के विकल्प छूटते जाते हैं। भगवान क्या कहते हैं? — इत्यादि आज्ञा का आलम्बन सातवें गुणस्थान में सहज ही छूट

जाता है। क्षण-क्षण में मन के विकल्पात्मक परिणामों का घटना और अन्तरङ्ग में स्थिरता / स्वरूपरमणता का बढ़ना होता है। देखो तो सही! श्रीमद् राजचन्द्र ने गृहस्थाश्रम में शैय्या पर बैठकर कैसी उत्तमभावना भायी है!! इस जाति का सैद्धान्तिक कथन तो कोई लाओ!

होऊँ अन्त में निजस्वरूप में लीन जब – 'प्रभु क्या कहते हैं' – ऐसे विकल्प का आलम्बन भी छूट जाए और मात्र ज्ञानस्वरूप समाधि में स्थिरता रहे – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा, यह भावना यहाँ भायी गयी है। ऐसे आत्मस्वरूप की स्वकालदशा, निर्ग्रन्थ वीतरागताधारक मुनिपद इस देह में प्राप्त हो – ऐसा अपूर्व अवसर (शुद्धपर्याय की निर्मलता, स्थिरता) कब आयेगी?

चैतन्य की शक्ति में से ही यह भावना करनी चाहिए। अपने शुद्धस्वरूप की भावना करनेवाले काल-क्षेत्र की प्रतीक्षा नहीं करते; वे अपने शुद्धस्वरूप की योग्यता देखते हैं।

'**पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ**' – इस प्रकार यहाँ पूर्ण पर दृष्टि है। जिसे जिसका मतलब होता है, वह उसका वायदा नहीं करता। जिसमें उत्कृष्ट रुचि हो, उसमें क्षणमात्र का विलम्ब नहीं सहा जाता। आत्मा का स्वभाव आनन्दस्वरूप है, इसलिए उसकी भावना में आनन्द की लहर-हिलोर आना चाहिए, उस आनन्द में अकेला आत्मा ही चिन्तन में आता है।

आत्मस्थिरता और उसका पुरुषार्थ अपने स्वयं के अधीन है किन्तु मन-वचन और काय का योग स्थिर रहे या चलायमान हो, यह उदयाधीन है। उन योगों के प्रवर्तन के सर्वथा घटनेरूप

अयोगीपना तो चौदहवें गुणस्थान में होता है। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तदशा में 'मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ' आदि सब विकल्प छूटकर आत्मस्वरूप में स्थिरता रहती है; उसमें बूद्धिपूर्वक किसी प्रकार के विकल्प का प्रवेश नहीं है। उसमें होनेवाले अति सूक्ष्म विकल्प, केवलज्ञानगम्य हैं; साधक को तो उन विकल्पों का लक्ष्य नहीं है।

'अपूर्व-अवसर' काव्य में 12 वें छन्द तक सातवें गुणस्थान पर्यन्त की भावना समझनी चाहिए। 'अवसर' का अर्थ है – उन-उन भावों की स्थिरता की अवस्था, एकाग्रता। यहाँ मुख्यरूप से मुनिपने की निर्ग्रन्थदशा को अवसर गिना है। ●●

मुनिराजों को सैकड़ों बार नमस्कार

मुनिराज तो संवर और निर्जरा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। मुनि-विरोध का अर्थ है - संवर और निर्जरातत्त्व की अस्वीकृति। जो सात तत्त्वों को भी न माने, वह कैसा जैन? हमें तो मुनिराजों के स्मरणमात्र से रोमाञ्च हो आता है। 'ण्मो लोए सव्व साहूणं' के रूप में हम तो सभी त्रिकालवर्ती मुनिराजों को प्रतिदिन सैकड़ों बार नमस्कार करते हैं। *(- चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ 36)*

काव्य - 6

पञ्च विषयमां राग-द्वेष विरहिता,
पञ्च प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबन्धवण,
विरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

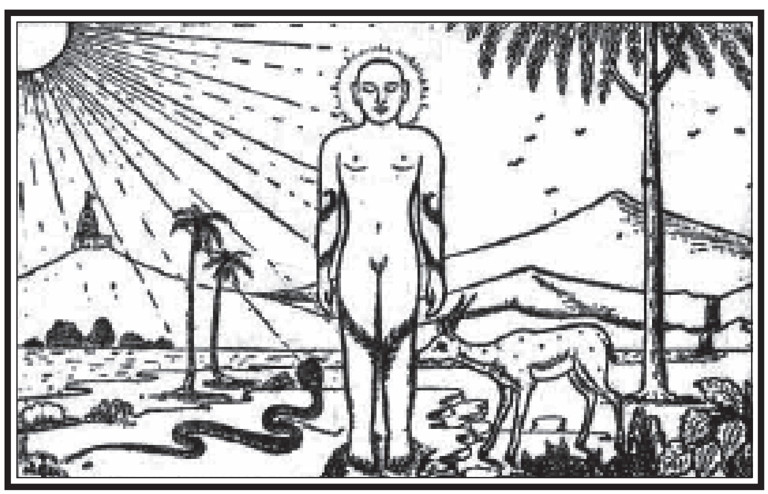

पञ्च विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं,
अरु प्रमाद से होय न मन को क्षोभ जब।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव प्रतिबन्ध बिन,
वीतलोभ को विचरूँ उदयाधीन जब॥
अपूर्व.........॥

काव्य - 6 पर प्रवचन

यह भावना धन्य है ! इस अपूर्व साधकस्वभाव की निर्ग्रन्थदशा धन्य है !!

एक दिन यह भावना पढ़ी जा रही थी, तब एक मताग्रही बोला – 'श्रीमद् ऐसी भावना भाते हुए भी साधु क्यों नहीं बने ?'

अरे रे ! कैसी अधम मनोदशा... ! पञ्चम काल की बलिहारी है !! निन्दा करनेवाले को इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह तो भावना है। सम्यग्दर्शन होने के साथ ही मुनिपना आवे – यह नियम नहीं है। मुनिपना किसी हठ से नहीं होता। यह तो लोकोत्तर परमार्थमार्ग है, अपूर्व साधकदशा की भावना है। जितना पुरुषार्थ हो, उतना ही कार्य सहज होता है।

कोई मानते हैं कि 'बाह्य त्याग किया, इसलिए हम साधु हैं', किन्तु यह कोई नाटक या अभिनय करना नहीं है; यह तो अपूर्व वीतरागचारित्र की बात है। राग-द्वेष-कषाय की तीन चौकड़ियों के अभाव होने पर मुनिपना प्रगट होता है और तब सहज ही बाह्य निमित्त वस्त्रादि छूट जाते हैं- यह नियम है; हठ से कुछ भी नहीं होता।

भावना करे और तुरन्त ही फल दिखाई दे – ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु भावना करनेवाले को पूर्ण विश्वास है कि अब संसार में मेरे ज्यादा भव नहीं हैं। ऐसे पवित्र धर्मात्मा के द्वारा की गयी भावना का विरोध करनेवाले जीव उस समय भी थे। 'उसकी प्रशंसा करनी हो तो हमारे स्थानक में मत आओ' – ऐसा कहनेवाले भी थे। उस समय की अपेक्षा वर्तमान काल अच्छा है

कि जिससे कई स्थानों पर उनकी (श्रीमद् की) महिमा के गीत गाये जाते हैं।

अरे! ज्ञान और ज्ञानी की विराधना करनेवाले जीवों को सच्चे हित की बात अच्छी नहीं लगती। जैसे, सन्निपात के रोगी को मीठा दूध हानि करता है, वैसे ही संसार में विपरीत मान्यतावाले परम हित का उपदेश सुनते हुए भी सत् का अनादर करते हैं। वे अपने को महान समझते हैं और दूसरों को तुच्छ। विषय-कषाय क्या है, उन्हें कैसे टालें? - ये सब-कुछ वे नहीं समझते हैं। उन्हें जिनाज्ञा का ज्ञान नहीं है और घर छोड़कर वेषधारी होकर त्यागी बनने का अभिमान करते हैं। वीतरागी की आज्ञा के नाम पर अनन्त ज्ञानियों की और अपनी भी अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा कैसे होती है? - यह उनके ज्ञान में नहीं है, उन्हें कौन समझावे? - ऐसे व्यवहारमूढ़ जीव बहुत देखे हैं।

श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है :-

जाना स्वरूप न वृत्ति का, किया व्रत अभिमान।
ग्रहे नहि परमार्थ को, लेने लौकिक मान॥

सम्यग्दर्शन क्या है? इसका उन जीवों को ज्ञान नहीं है और मात्र शुभभाव (मन्दकषाय) को धर्म मानते हैं, संवर मानते हैं, निर्जरा मानते हैं। दया, दान के शुभराग को आस्रव न मानते हुए उस राग से संसार का टूटना, कम होना मानते हैं किन्तु वास्तव में शुभपरिणाम, पुण्य है; धर्म नहीं है।

'हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं' - ऐसे अभिमान हो, वहाँ तो मन्दकषाय भी नहीं है; तब संवर, निर्जरा कैसे होंगे? नहीं हो

सकते। जिसने ज्ञानी को पहचाना है, उसे मध्यस्थता एवं आदरसहित ज्ञानी का समागम करना चाहिए। उसकी बात पर मध्यस्थतापूर्वक विचार करके मतार्थ, स्वच्छन्दता आदि दोषों को दूर कर अतीन्द्रिय आत्मधर्म का निर्णय करना चाहिए।

पञ्च विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं - पाँच इन्द्रियों के विषय – निन्दा-प्रशंसा के शब्द; सुन्दर-असुन्दर रूप; खट्टा -मीठा रस; सुगन्ध-दुर्गन्धरूप गन्ध; कोमल-कर्कश आदि स्पर्श - इन सबमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए और विशेषत: उनकी उपेक्षा वर्तना चाहिए। जैसे, हाथी के मोटे चमड़े पर कङ्करी का स्पर्श होते हुए भी उसका उस पर कोई लक्ष्य नहीं होता, उसी प्रकार स्वरूपस्थिरता के रमण में बाह्य लक्ष्य नहीं होता। ज्ञातास्वरूप के पूर्ण ध्येय के आगे विषय-कषाय की वृत्ति (विकल्प) भी नहीं होती। चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल पुद्‌गलरचना के विकृत गन्ध, रस, रूप के ढेर के ढेर पड़े हुए हों, किन्तु उनकी तरफ उनका लक्ष्य भी नहीं होता।

अरु प्रमाद से होय न मन को क्षोभ जब - पाँच प्रमाद नहीं हो जाएँ, अर्थात् स्वरूप में असावधानी न हो। प्रमाद पाँच प्रकार के हैं - विकथा, कषाय, विषय, निद्रा, और स्नेह। जो अपने स्वरूप के महत्त्व से परिचित है, उसे परवस्तु के क्षणिक संयोग की ममता कैसे हो ? जैसे, चक्रवर्ती के चौंसठ सेरवाले अति मूल्यवान कई हार होते हैं। उसे कोई भील, चिरमी का हार भेंट कर जाए तो उसे (चिरमी के हार के) प्रति ममता नहीं होती; वैसे ही ज्ञानी धर्मात्मा को विषय-कषाय से क्षोभ नहीं होता। ज्ञानस्वरूप की स्थिरता के

समय किसी भी प्रकार के संयोग-वियोग में क्षोभ अथवा अस्थिरता नहीं हो; इसलिए स्वसन्मुख ज्ञातापने में ही सावधान रहूँ।

विकथा - आत्मा की धर्मकथा भूलकर, परकथा करे, ऐसी साधु की वृत्ति कभी नहीं होती। संसार की कुकथा का रस, विकथा है, वह ज्ञानी के नहीं होती। जिसे मोक्ष की पूर्ण पवित्रता का प्रेम है, उसे संसार के विषय-कषाय, निन्दा आदि का भाव कैसे होंगे ? अर्थात् नहीं होते।

मुनिदशा में ऐसे पाँच प्रकार के विषय तथा क्रोध, मान, माया, लोभ की तीन चौकड़ी का अभाव होता है। आत्मस्वरूप में अनुत्साह का नाम प्रमाद है। आत्मस्वरूप में उत्साह अथवा स्वरूप में सावधानी का नाम अप्रमाद है - ऐसी सर्वोत्कृष्ट साधकदशा वर्तो, ऐसी शुद्ध अवस्था की एकाग्रता शीघ्र वर्तो - ऐसी यहाँ भावना की गयी है।

द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव प्रतिबन्ध बिन -

(१) द्रव्यप्रतिबन्ध का अभाव : ज्ञानी को किसी पर-वस्तु बिना न चले, उसमें अटकना पड़े - ऐसा नहीं होता है। ज्ञानी, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता।

(२) क्षेत्रप्रतिबन्ध का अभाव : ऐसा नहीं होता कि अमुक क्षेत्र में जलवायु की अनुकूलता अच्छी है; इसलिए वहाँ ठहरूँ।

(३) कालप्रतिबन्ध का अभाव : शीत ऋतु में अमुक क्षेत्र मेरे अनुकूल है, गर्मी में अमुक स्थान पर जाऊँ - ऐसा काल का प्रतिबन्ध नहीं होता।

(४) भावप्रतिबन्ध का अभाव : किसी भी प्रकार से एकान्त पक्ष का आग्रह न हो। इस स्थान पर मुझे माननेवाले बहुत हैं अथवा इस स्थान पर अधिक मनुष्य हैं, उनकी भक्ति अच्छी है; इसलिए वहाँ रहूँ या बहुत भक्तिभाव से आग्रह करते हैं; इसलिए ठहरूँ – ऐसा भाव (इच्छा) नहीं होता।

– ऐसे चार प्रकार के प्रतिबन्धों से रहित अप्रतिबन्ध मोक्षमार्ग में अप्रतिहतभाव से कब विचरूँगा – ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

वीतलोभ को विचरूँ उदयाधीन जब – विहार-स्थलों में लोभकषायरहित, संयमहेतु से उदयाधीन / प्रकृति के योगानुसार विचरना, अर्थात् शरीरादि की क्रिया होती है। उदयाधीन, अर्थात् पूर्व प्रकृति का जब उदय आवे तो उसे विवेकसहित जाने कि यह (कर्मोदय) मेरा कर्तव्य नहीं है और उसमें ममत्व-राग न करे। अपने ज्ञानभाव से प्रकृति के उदय को जाने और ज्ञान में ज्ञानरूप से सावधान रहे, किन्तु उसमें कोई इच्छा, विकल्प या ममत्व नहीं करे। यहाँ अपूर्व वीतरागदशा के लिए निर्ग्रन्थ मुनि, अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में रहे, आत्मा की ऐसी अपूर्व स्थिरता को उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी – ऐसी भावना भायी है।

'सर्व सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर' – ज्ञान और कर्मउदय की सूक्ष्म सन्धि को प्रज्ञा द्वारा स्थिरता से छेदकर, अकषायत्व के लक्ष्य से विचरने की भावना प्रगट की है और इसलिए कहा है कि ***'विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब'***, अर्थात् कोई जिनेश्वर महान पुरुष मिले या मुनिवर सत्पुरुषों का

संयोग मिले तो उनके पद्चिह्नों का / मार्ग का अनुसरण करूँ – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? बाह्य और अभ्यन्तर कर्म-कलङ्क दूर कर आत्मस्वरूप की स्थिरता करूँ – ऐसी साधकदशा की यह भावना है। ●●

मुनिदशा की अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है। कोई कहे कि 'वस्त्र होवे तो क्या आपत्ति है क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है?'

इसका समाधान यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता, यह बात तो सत्य है परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गयी है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ 144)

काव्य - 7

क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

क्रोधभाव के प्रति हो क्रोध स्वभावता,
मानभाव प्रति दीनभावमय मान जब।
माया के प्रति माया साक्षीभाव की,
लोभभाव प्रति हो निर्लोभ समान जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य - 7 पर प्रवचन

जिसकी रुचि हो, उसकी भावना होती है। आत्मा, स्वभावत: कषायरूप नहीं है; इसलिए चारों कषायों को छोड़ने का भाव यहाँ बताया है। आत्मा, क्रोध, मान, माया और लोभरूप नहीं है; क्रोधादि भूल करना उसका स्वभाव नहीं है; वह भूलरूप होना मानता है किन्तु स्वयं भूलरूप नहीं होता।

जैसे, क्रोध करने का भाव हो, वैसे क्रोध को रोकने के लिए उग्र पुरुषार्थरूप भाव करूँ, अर्थात् ज्ञान में स्थिर होऊँ; इस प्रकार ज्ञानस्वभाव के प्रति रुचि होने से क्रोध रुक जाता है क्योंकि अन्तरङ्ग में ज्ञानकला द्वारा ज्ञान का धैर्य प्रगट होता है। मक्खी को भी शक्कर और फिटकरी का विवेक है; इसलिए वह शक्कर पर बैठती है, फिटकरी पर नहीं। जिस प्रकार मक्खी को दोनों वस्तुओं के लक्षणों को जानकर ग्रहण-त्याग का विवेक है; उसी प्रकार जीव को भी विवेक करना चाहिए। जड़वस्तु के लक्षण से भिन्न लक्षणवाला मैं, राग-द्वेषरहित, पवित्र ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ। जैसे, मक्खी फिटकरी में खटास जानकर उसे छोड़ती है; उसी प्रकार ज्ञानी, विवेक द्वारा स्व-पर का लक्षण भिन्न जानकर परभाव / शुभाशुभभाव को छोड़ता है और स्वानुभव में स्थिर रहता है। आत्मा के अनहद निराकुल आनन्दरस का रसिक मगजपच्ची में - क्लेश में क्यों फँसे ?, अर्थात् नहीं फँसेगा।

क्रोधभाव के प्रति हो क्रोध स्वभावता - मैं आत्मा हूँ, सत्-चैतन्यमय हूँ, शुभाशुभ रागादि तथा देहादि सर्वाभासरहित साक्षीस्वभाव, प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ; परद्रव्य मेरे बाधक नहीं है। ऐसे

साधक को कभी कुछ क्रोधादि भी हों, किन्तु उनसे ज्ञान–श्रद्धान का नाश नहीं होता। यह ऐसी उपेक्षाभाव की भावना है कि मैं उदयभाव में न अटकूँ।

जैसे, सत्ताप्रिय और पुण्यवान मनुष्य दूसरे को दबाने की कला अच्छी तरह जानता है और पुण्य की सभी सामग्री इकट्ठी होने से वह निर्बल मनुष्यों को तो खड़ा ही नहीं रहते देता; वैसे ही चैतन्यप्रभु में असीमित सामर्थ्य–ज्ञानबल है, वह पुण्य–पाप की वृत्ति को दबाकर दूर कर देता है; साधक को ऐसी स्वसत्ता का वीर्य प्रगट होता है।

'पूर्व प्रकृति की वर्तमान स्थिति दिखाई पड़ती है, उसका मैं साक्षी ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ; इसलिए क्रोधादि को न होने दूँ – ऐसे अकषाय शुद्धस्वरूप में सावधान रहूँ' – ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी, ऐसी भावना यहाँ बार–बार की गयी है।

मानभाव प्रति दीनभावमय मान जब – लोकोत्तर विनय और विवेकसहित दीनता रखना, सत्स्वरूप के प्रति बहुमान है, नम्रता है। सच्चे गुरु का दासानुदास हूँ, पूर्ण स्वरूप का दास हूँ; इसमें दीनता या गरीबी नहीं है किन्तु पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप आत्मा की विनय है। जिन व्यक्तियों में जो अनन्त गुण प्रगट हो गये हैं, उन व्यक्तियों को देखकर उन गुणों को अपने में प्रगट करने की रुचि का विनय है।

शास्त्र में कहा है कि क्रोध को उपशमभाव से जीतो; मान को नम्रता द्वारा दूर करो।

अहो! सर्वज्ञ वीतराग प्रभु! कहाँ आपकी अखण्ड पूर्ण स्वरूप

आनन्ददशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञता! जब तक मुझमें केवलज्ञान प्रगट न हो, तब तक मैं अल्पज्ञ हूँ। इस प्रकार अपने पूर्ण स्वरूप में स्थिर होने के लिए अत्यन्त निर्मानता, मृदुता प्रगट की गयी है। 'जिसे जिसकी रुचि होती है, वह उसका बहुमान करता है' इस विकल्प के साथ भी पूर्ण अकषायस्वरूप हूँ - ऐसा लक्ष्य में रखकर शुद्धि की वृद्धि के लिए यह पुरुषार्थ है, ऐसी यह लोकोत्तर विनय है।

अरे! यहाँ चार ज्ञानधारी श्रीगणधरदेव भी सर्वज्ञप्रभु के पास अपनी पामरता प्रगट करते हैं। संसार में विपरीत दृष्टिवाले दूसरों के द्वारा लाभ-हानि मानते हैं, पुण्यादि की पराधीनता में सुख मानकर अभिमान करते हैं कि हम शरीर से सुन्दर हैं, आदर -सम्मान एवं द्रव्य से बड़े हैं। वे इन उपाधिभावों को अपनाकर अनित्य जड़पदार्थ से अपने को बलवान समझते हैं किन्तु पुण्यादि जड़ की उपाधि से अपने को बलवान समझना महा-अज्ञानसहित विपरीतदृष्टि है।

धर्मात्मा यह मानता है कि उसमें अनन्त गुण हैं, अनन्त सुख है किन्तु अभी पूर्ण पवित्रदशा प्रगट नहीं हुई; इसलिए वह निर्दोष देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करता है। अपने अनन्त गुणों का बहुमान करते हुए वह विनय से नत होता है। जो पूर्णता का साधक है, उसे पूर्ण पवित्रस्वरूप की आराधना करने में अल्प दोष भी रखने की बुद्धि नहीं होती। विनयी धर्मात्मा, अत्यन्त कोमल-सरल परिणाम रखता है। वह निर्दोषस्वभाव में जागृतिवाली भावना भाता है कि मुझमें गर्व का एक अंश भी नहीं रहे - ऐसी निर्मानता-वीतरागदशा मुझे कब होगी?

साधक के अन्तर में पूर्ण शुद्ध परमात्मस्वरूप की प्रतीति रहती है; इसलिए वह जानता है कि वह अभी वर्तमान दशा में अस्थिरतारूप कमजोरी को लिए हुए पामर हूँ, अर्थात् मैं पूर्ण स्वरूप का दासानुदास हूँ। ऐसा विवेक होने से वह वीतरागी सत्पुरुष का बहुमान करता है, वह उसे परमार्थ से अपने स्वरूप की भक्ति है। मेरा पूर्ण स्वभाव अभी प्रगट नहीं हुआ; इसलिए अभिमान क्यों करूँ? – ऐसा जानता हुआ, वह स्वरूप की मर्यादा में रहता है।

जीव की सिद्ध परमात्मा–दशा पूर्ण स्वरूप से निर्मल होने से उसके बाद कोई अन्य मर्यादा लांघने को शेष नहीं रहती है। जीव का सिद्धस्वभाव अपने आप में परिपूर्ण है किन्तु साधकदशा में अभी सिद्धों से अनन्तवें भाग भी गुण की शुद्धता प्रगट नहीं हुई है तो उसमें वह अभिमान कैसे करे? मुमुक्षु–साधक आत्मा, अति सरल, हित–अहितभाव को समझने में विचक्षण और विनयवान होता है। उसमें पात्रता और लोकोत्तर विनय की महत्ता है। प्रभु का भक्त, प्रभु जैसा ही होता है। 'मैं परमात्मा का दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ' – ऐसी निर्मानता साधक के होती है। वह अपने गुणों पर लक्ष्य कर स्वभाव की शुद्धता बढ़ानेवाला होने से पुण्यादि, देहादि की गुरुता स्वीकार नहीं करता है।

साधक अभूतपूर्व पवित्र निर्मानदशा (मध्यस्थदशा–वीतराग–दशा) की भावना करता है। पहले अनन्त काल में शुभराग में लौकिक सत्य, सरलता, निर्मानत्व आदि भाव किये हैं लेकिन उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है; किन्तु आत्मा के यथार्थ भानसहित अकषायत्व के लक्ष्य से कषायादि राग–द्वेष की अस्थिरता का

सर्वथा क्षय करूँ – ऐसे अपूर्व अवसर की ही महत्ता है। जीव ने अज्ञानभाव में तो बहुत किया है – बाह्य में त्यागी होकर ध्यान में बैठा हो, तब उसके शरीर को जला दिया जाये अथवा चमड़ा उतारकर नमक डाल दिया जाये तो भी मन में जरा-सा भी क्रोध नहीं करे – ऐसी क्षमा, अज्ञानभाव में अनेक बार की, किन्तु अन्तरङ्ग में मनसम्बन्धी शुभपरिणाम का पक्ष (बन्धभाव) बना रहा, तब भी ज्ञानभावयुक्त निर्जरा नहीं हुई।

आत्मा के भान बिना जो सरलता, विनय, निर्मानत्व, शास्त्रों का पठन आदि हैं, वे सब मन की धारणारूप परभाव हैं। जीव उस बन्धभाव (उदयभाव) को अपना मानकर शुभ-अशुभ में रुचिरूप से परभाव में लीन रहा है किन्तु आत्मा को पर से निराला, निरावलम्बी कैसे रखा जाए? – इसकी ज्ञानकला जब तक जीव नहीं जानता, तब तक उसका सारा श्रम व्यर्थ में ही जाता है क्योंकि वह अज्ञान तो करे और उसका अपराध से छुटकारा हो, बचाव हो– ऐसा नहीं होता।

माया के प्रति माया साक्षीभाव की – कपटभाव की तुच्छवृत्ति के समक्ष अखण्ड ज्ञायक साक्षीभाव की जागृतिरूप निर्दोष विचक्षणता विकसित हो तो गुण द्वारा दोष दूर हों।

कोई कहता है कि संसार में **'शठे साठ्यं समाचरेत्'** क्योंकि वैसा किये बिना काम नहीं चलता। स्त्री-पुत्रादिक सब अनुशासन में रहें; इसलिए हमें तो घर व दुनियादारी के लिए कषाय करनी ही पड़ती है। उससे ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी यह मान्यता विपरीत है, भ्रम है। पाप करूँगा, क्रोध-कपट करूँगा तो सब ठीक रहेगा,

अर्थात् दोष से लाभ हो – यह कैसे बने ? जो ऐसे विपरीत सिद्धान्त को मान्य करते हैं, वे क्रोध–कपट को नहीं छोड़ सकते, क्योंकि शठ के प्रति शठता करना स्वयं अपराध है। शठ के प्रति भी सरलता–सज्जनता होनी चाहिए।

प्रयोजनवश किसी को सूचना देने का विकल्प आ जाए, यह अलग बात है किन्तु कषाय करने योग्य है – ऐसी मान्यता तो विपरीत ही है। थोड़ा–बहुत क्रोध, मान, माया, लोभ करूँ तो सब ठीक बना रहे – ऐसा जो मानता है, उसका अर्थ यह हुआ कि अवगुण करूँ, दोष–दम्भ करूँ तो ही अच्छा रहे, किन्तु यह सब विपरीत मान्यता है। दोष करनेयोग्य मानने में दोष रखने की बुद्धि हुई तो उससे गुण कैसे प्रगट होंगे ? इसलिए आत्मा का हित करना हो तो यह निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वभाव असीम समता–क्षमारूप है।

संसार, देहादि परद्रव्य की व्यवस्था में कोई किसी के अधिकार में नहीं है; प्रत्येक वस्तु के कार्य स्वतन्त्र हैं। कोई वस्तु दूसरे के आधीन नहीं है। किसी के राग–द्वेष करने से वह वस्तु अनुकूल नहीं होती; पूर्व का पुण्य हो तो अनुकूल दिखती है किन्तु कोई वस्तु या कोई आत्मा, किसी के आधीन नहीं है।

कोई कहे कि व्यापक प्रेम करने से जगत् वश में होता है; इसलिए सम्पूर्ण विश्व से प्रेम करना – प्रेम का विस्तार करना चाहिए। इसका यह अर्थ होता है कि अधिक राग करूँ तो सब मेरे अनुकूल हो जाएँ, तब मुझे शान्ति की प्राप्ति हो, किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं; इसलिए परद्रव्य से धर्म और शान्ति

माननेवाले पर के आश्रित अपना समाधान करना चाहते हैं; अतः उनके सभी सिद्धान्त झूठे हैं।

निर्दोष मोक्षमार्ग में तो परसंयोग की अपेक्षारहित, राग-द्वेष -विषय-कषायरहित, त्रिकाली ज्ञायक हूँ; पर से भिन्न पूर्ण पवित्र ज्ञानमय हूँ; रागादिरूप नहीं हूँ, शरीरादि की क्रिया नहीं कर सकता, पुण्यादि परवस्तु की सहायता की दीनता या अपेक्षावाला नहीं हूँ; अकेला पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभावी हूँ - ऐसी स्वलक्ष्य की स्थिरतारूप पवित्रदशा प्रगट करने का पुरुषार्थ अपने से ही होता है; उसमें परवस्तु की आवश्यकता हो - ऐसी पराधीनता नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव सदैव ही स्वतन्त्र है।

पूर्ण स्थिरता में न रहे सके, तब निर्दोष देव-गुरु-शास्त्र तथा वीतरागधर्म के प्रति विनय-भक्तिरूप झुकाव रहता है। वहाँ भी वीतरागता की रुचि की लगन है। उसमें थोड़ा भी राग-द्वेष आदरणीय नहीं है तो फिर पर का करूँ या न करूँ - ऐसी बात कैसे हो? क्योंकि कोई आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता; इसलिए जिन्हें अपने हितरूप सम्यक्मार्ग अपनाना है, स्वाधीन ज्ञातापन में स्थित रहकर, अपना सच्चा हित करना है, उन्हें अपने निर्दोष ज्ञानस्वभाव द्वारा समझना चाहिए कि मिथ्या-अभिप्राय आदि दोष से गुण प्रगट नहीं होता; इसलिए त्रिकाली वस्तुस्वरूप को सर्वज्ञ-वीतरागकथित नय-प्रमाण द्वारा समझना चाहिए।

आत्मा, सदैव ज्ञान-आनन्दस्वरूप निर्दोष साक्षी है। मैं ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ - ऐसी श्रद्धा, उस स्वाधीन पूर्ण स्वरूप का ज्ञान और उसका ही आचरण होने पर थोड़ा-सा भी क्रोध, मान, माया,

लोभ आदरणीय नहीं होते। वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से अल्प कषाय की अस्थिरता हो – यह अलग बात है किन्तु हम गृहस्थी हैं; इसलिए हमें थोड़ा राग–द्वेष भी करना चाहिए तो ही सब ठीक रहे – यह अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि पूर्व पुण्य के बिना बाह्य की अनुकूलता नहीं मिलती। वास्तव में बाह्य की अनुकूलता है — ऐसा कहना कल्पनामात्र है। मैं, घर, संसार, देहादि को ऐसे ही ठीक रख सकता हूँ, सबको वश में रख सकता हूँ, पर मुझे सहायक हैं, मैं दूसरे की सहायता कर सकता हूँ – यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यादर्शन नामक शल्य है।

प्राचीन काल में किसी महान् राज्य का स्वामी एक परदेशी नाम का राजा था किन्तु एक समय ऐसा हुआ कि उसकी रानी ने ही उसे ज़हर दे दिया। ऐसा जानकर भी उसने अपनी स्त्री पर क्रोध नहीं किया और जाना कि इस शरीर का अन्त इसी प्रकार से होना था। मैं किसी परवस्तु का स्वामी नहीं हूँ, स्त्री ने मेरे शरीर से लाभ न होता हुआ माना, इससे उसने द्वेषरूप यह कार्य किया; मैं अपना ज्ञानरूप कार्य करूँ। ज़हर खिलाया – यह भी जान लिया। मैं तो असंयोगी ज्ञाता ही हूँ – ऐसा विचार करते–करते राजा ने अपने बेहद पवित्र ज्ञातास्वभाव की महिमा में स्थिर होकर महापवित्र समाधिदशा में – ज्ञानभाव में देह का परित्याग किया, किन्तु अपनी राज्यसत्ता का उपयोग नहीं किया। यह उसकी भूल नहीं थी किन्तु ज्ञानी की विचक्षणा थी, विवेक था।

कोई कहे कि मैं परवस्तु में विवेक से काम कर सकता हूँ किन्तु वस्तुत: किसी का किसी द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता है। जीव, ज्ञान में स्व को भूलकर मात्र राग–द्वेष व कर्ता–भोक्ता का

भाव कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुणों युक्त, अनन्त सामर्थ्ययुक्त है। तीन काल और तीन लोक में कोई भी पर की क्रिया करने को समर्थ नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। निमित्तरूप से कर्ता हूँ – ऐसा मानना भी अज्ञान है क्योंकि पर को दबाने का कषायभाव करे तो भी पर से लाभ-हानि नहीं हो सकते; अत: अपने त्रैकालिकस्वभाव के लक्ष्य में ज्ञानस्वभाव की जागृति और शान्तिरूप रहे तो निर्मलता प्रगट होती है।

कोई वस्तु पराधीन नहीं है; प्रत्येक पदार्थ सर्वथा स्वतन्त्र है, भिन्न-भिन्न है। अनादि और अनन्तरूप से अपने आप में परिपूर्ण है। मात्र स्वभाव का लक्ष्य करके अनादिकालीन विपरीत अभिप्राय / खोटी मान्यता दूर करने की प्रथम आवश्यकता है।

सच्चा ज्ञानी अन्तरङ्ग से समाधान करता है और अज्ञानी पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। कुटुम्ब में किसी की भूल हो जाए तो विवेक से समाधान करना चाहिए। पति में भूल हो तो स्त्री उपेक्षा करती है, सहन करती है; कभी स्त्री भूल करे तो उसका पति जरा भी सहन न करे – वह न्याय नहीं है। लौकिकनीति-व्यवहार में सज्जनता का दावा करनेवाला, अपने मान्य सिद्धान्तों के लिए बहुत कुछ सहन करता है और इस नीति के लिए अन्य सबकी उपेक्षा करता है; इसी प्रकार आत्मधर्म में व्यवहारिक सज्जनता होनी ही चाहिए। अखिल संसार की स्थिति क्या है ? – यह जो विवेक से तथा समझपूर्वक धैर्य से जानता है, वह अन्य को दोष-दु:ख देने का भाव नहीं करता।

प्रश्न : आपकी बात सच्ची है किन्तु क्या घर-संसार में रहकर ऐसा होना सम्भव है ?

उत्तर : परसंयोग किसी का लाभ या नुकसान नहीं करा सकते, अज्ञान से मानो भले ही। जिसे ऐसा अभिमान है कि यदि हम क्रोधादि कषाय न करें तो काम नहीं चले; मान, इज्जत, अनुकूलता नहीं मिले, लोक में निर्बल कहलाएँ, किन्तु उसके ऐसे अभिप्रायानुसार पर में कुछ भी नहीं होता; इसलिए ऐसी मान्यता मिथ्या है।

1. जिन्होंने तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ में चैतन्यवीर्य को संलग्न कर दिया है; पर को दबाया और अनीतिपूर्ण अभद्र आचरण किये हैं, वे भयङ्कर नरकगति में नपुंसक हुए हैं तथा नपुंसक जीव को स्त्री-पुरुष दोनों के प्रति काम-भोग की अनन्त तीव्र आकुलता होती है।

2. जो क्रोध, मान, लोभ में थोड़े लगे, किन्तु जिन्होंने कपट अधिक किया, वे तिर्यञ्च-पशु हुए।

3. जो मन्दकषाय के मध्यमभाव में रहे, वे मनुष्य हुए।

4. जो शुभभाव में बढ़े, वे देव हुए।

5. जिन्होंने स्वरूप की स्थिरता द्वारा कषाय में अपना उपयोग सर्वथा नहीं लगाया, वे वीतरागी सिद्धपरमात्मा हुए।

'इस प्रकार सब जीव सिद्धसमान हैं' - ऐसा जो समझता है, वह सिद्ध होता है। सिद्धपरमात्मा के समान पूर्ण पवित्र शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है; जो इसे समझे, वह वैसा हो सकता है किन्तु असीम ज्ञान को, समतास्वरूप की पवित्र शान्ति को भूलकर क्रोध, मान, माया, लोभरूप विषय-वासना में लीन होना, परवस्तु

में इष्टबुद्धि करना महापाप है; स्वाधीनस्वरूप की अनन्ती हिंसा है। क्रोधादि तुच्छभावों को धारण करने में अपनी हीनता नपुंसकता है; अतः सर्व प्रथम आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानकर पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना व पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानने का अभिप्राय बदलकर ऐसा निर्णय करें कि मेरे नित्य ज्ञानस्वभाव में जरा भी क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है, क्लेश नहीं है; इसलिए ये करने योग्य नहीं हैं।

हित-अहितरूप परिणाम तो अपना ही भाव होने से, उन्हें पहचानकर अपने वश में रख सकता है किन्तु पर का कुछ भी नहीं कर सकता - ऐसे विवेकस्वभाव से निश्चित होने पर यह निश्चित हुआ कि क्रोधादि दोष द्वारा स्त्री-पुत्र आदि ठीक रहें और वश में रहें - ऐसा मानना झूठा ही है; इसलिए त्रिकालीस्वरूप में विवेकी दृष्टि रखकर अवगुण (दोष) करने का लक्ष्य स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। जरा भी क्रोधादि कषाय मेरे नित्य तत्त्व में नहीं हैं, इसलिए इन्हें न होने दूँ, स्वसन्मुख ज्ञाता ही रहूँ - ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिए, अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापना और उसमें धीरज रखने का विशेष पुरुषार्थ करना, वह अपने अधिकार में है।

जैसे, ज्ञानस्वभाव की जागृति छिपाकर दूसरे से कपटभाव किया करता था, वैसी प्रवृत्ति छोड़कर मैं अखण्ड ज्ञानस्वभाव की जागृति इस प्रकार रखूँ कि किसी प्रकार का कपट अंश आवे तो उससे भिन्न ही रहूँ, निर्दोष साक्षीभाव को ज्ञानदृष्टि द्वारा जान लूँ। स्वभाव की जागृति में अंशमात्र भी कपट नहीं आने दूँ, पवित्र सरलस्वभाव की दृष्टि और महिमा द्वारा माया (कुटिल) भाव को जीत लूँ - ऐसी मेरी भावना है।

लोभभाव प्रति हो निर्लोभ समान जब – जैसे, लोभ में 'लोभ करने योग्य है' – ऐसा ममत्वभाव था, अब मैं इस लोभ के प्रति अंशमात्र भी लोभ नहीं रखूँ; किन्तु निर्लोभतारूप अकषायी सन्तोषभाव से आत्मा में स्थिर रहूँ, परम शान्तिमय मेरे आत्मा में तृप्त रहूँ। मैं अनन्त ज्ञान–शान्तिस्वभावी हूँ। ज्ञानस्वभाव में स्थिरता द्वारा निर्मलता प्रगट होने से त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञान प्राप्त होता है, उस पूर्ण आनन्दस्वभाव को भूलकर परसंयोग में सुखबुद्धि मानकर विपरीत हुआ, इससे तीन काल और तीन लोक के परिग्रह की तृष्णा बढ़ती जाती है किन्तु उस तृष्णा का पेट कभी भरा हो – ऐसा नहीं होता।

अज्ञानभाव में अनन्ती तृष्णा द्वारा जैसे लोभ करने में असीमता थी, वैसे ही मैं ज्ञानस्वभाव में दृढ़ होने से बेहद सन्तोषपूर्वक पूर्ण शुद्धता के ज्ञान द्वारा अनन्त ज्ञान एवं सन्तोष रख सकता हूँ। संसार की वासना को दूर कर मैं पुण्य–पापरहित पूर्ण शुद्ध पवित्रता में ठहरूँ और नित्यस्वभाव का सन्तोष प्राप्त करूँ – ऐसी यह भावना है।

पूर्ण पवित्र सिद्धपद अपने में शक्तिरूप में है, उसकी प्राप्ति के लोभ का विकल्प छठवें गुणस्थान तक होता है किन्तु दृष्टि में पूर्ण का आदर होने से शुभविकल्प का भी नकार है और भविष्य में 'प्रभु की आज्ञा से उसी स्वरूप में लीन होऊँगा' – इसका वर्तमान में सन्तोष है, अर्थात् संसार के पुण्यादि परमाणुओं की इच्छा नहीं है किन्तु मोक्ष की इच्छा का विकल्प छूटकर, स्वरूप की स्थिरता की अपूर्व प्राप्ति कब होगी ? – ऐसी यहाँ भावना की गयी है। ●●

काव्य - 8

बहु उपसर्गकर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वन्दे चक्री तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहिं,
वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब।
देह जाय पर माया नहिं हो रोम में,
लोभ नहिं हो प्रबल सिद्धि निदान जब ॥
अपूर्व.......... ॥

काव्य – 8 पर प्रवचन

'अपूर्व-अवसर' की भावना में ऐसी रुचि का चिन्तन है कि उत्कृष्ट साधकदशा प्रगट हो और शुभाशुभभावों का क्षय करूँ कि जिससे पुनः बन्धन न हो। अखण्ड-अबन्ध, अपूर्वदशा के द्वारा विकल्प का अभाव करूँ, अर्थात् अपनी शुद्धदशारूप बाण को उग्र करके, पुरुषार्थ द्वारा कर्मोदय की सूक्ष्म सन्धि के जुड़ानभाव को नष्ट कर दूँ – ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी – यह भावना यहाँ की गयी है। अत्यधिक उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी लेशमात्र क्रोध न हो – ऐसी यह भावना है। क्रोधादि कषाय करने का अभिप्राय नहीं है किन्तु स्वरूपस्थिरता की दृढ़ता का, उग्रता का पुरुषार्थ करूँ – ऐसी यहाँ भावना है।

स्वयं निरपराधी होते हुए भी किसी देव, मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा अचेतन प्रकृतिकृत घोर उपसर्गजनित असाता का उदय हो तो भी उसके प्रति लेशमात्र भी क्रोध नहीं करूँ, क्योंकि पहले असातावेदनीयादि अनेक कर्म बाँधे हैं, वे अपनी स्थिति अनुसार फल देकर निर्जरा को प्राप्त होते हैं, वे अस्थायी हैं; उनसे ज्ञानगुण को कोई हानि नहीं होती।

कोई यह माने कि मैंने बहुत सहन किया तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है क्योंकि ज्ञान का स्वभाव असीमरूप से जानना है। जिसे केवलज्ञान प्रकट हो, वहाँ सब अनन्त सहज ही जाना जाता है। उस दशा के बिना 'मैंने बहुत जान लिया, सहन किया' – ऐसा मानना भूल है।

कोई कहे कि कोई मुझे गाली दे, मेरी निन्दा करे तो कितनी

बार सहन करूँ? सहन करने की कोई सीमा तो होनी चाहिए? किन्तु ऐसा नहीं है। सहन करना, अर्थात् समझ का कार्य तो जाननेरूप रहना है। अनन्त प्रतिकूलता के संयोग दिखाई पड़ते हुए भी ज्ञान रुकने के स्वभाववाला नहीं है; जानने में दोष या दु:ख नहीं है। जो जैसा है, वैसा जानना तो गुण है; उसमें अनन्त समता है। आत्मा सदैव ही अपरिमित ज्ञानसमता का समुद्र है। परवस्तु को जानता हूँ - ऐसा कहना व्यवहारमात्र है; वास्तव में स्वयं अपने ज्ञान की स्वच्छता को अपने में जानता है, देखता है। परवस्तु किसी को बिगाड़नेवाली या सुधारनेवाली नहीं है।

आत्मा, स्वाधीन ज्ञानस्वरूप है। वह रागादि या देहादि परवस्तुरूप तीन काल में भी नहीं है। एक द्रव्य में परद्रव्य का कारण-कार्यभाव, पराधीनता या पर का सहायकत्व तीन लोक और तीन काल में नहीं है। घास के एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत किसी आत्मा में नहीं है, फिर भी कोई ऐसा माने कि आत्मा में ऐसी ताकत है तो उसकी मान्यता मिथ्या है; उसे स्वतन्त्र ज्ञानस्वभावी आत्मा का तथा पुद्गल की स्वतन्त्रता का भान नहीं है।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है, उसने राग को करने योग्य माना है। मुझे पर से लाभ-हानि है - ऐसा जो मानता है, उसने अनन्त पर के साथ अनन्त राग-द्वेष को करने योग्य माना है। उसकी विपरीत मान्यता में, तीनों काल राग-द्वेष करने योग्य है - ऐसा आया, किन्तु ज्ञान में स्वलक्ष्य से ज्ञान का समाधान करने योग्य है - ऐसा उसने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने सर्वज्ञ-वीतराग के न्याय से यथार्थ ज्ञानस्वभाव को जानकर अनादि-अनन्त एकरूप,

पर से भिन्नरूप जाननेवाला मैं हूँ – ऐसे बेहद अपरिमित ज्ञान व समतास्वरूप की प्रतीति की, उनको ज्ञानस्वभाव का धैर्य किसी प्रकार नहीं छूट सकता। इसलिए गृहस्थदशा में भी अखण्ड ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में बेहद समता, सहज ही आती है।

ज्ञान तो गुण है। गुण से दोष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जिन्होंने ज्ञान को अपना स्वरूप स्वीकार किया, उन्होंने उसको पर से प्रतिरुद्ध होना नहीं माना। ज्ञान में जो जैसा है, उसे वैसा जान लेना तो गुण है। ज्ञान का कार्य तो जाननामात्र है किन्तु राग का कार्य परवस्तु में इष्ट–अनिष्ट कल्पना करना है। ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अखण्डस्वभाव है, वह किसी भी काल में जानने में समाप्त हो या अटक जाए – ऐसा नहीं है।

जिन्हें परवस्तु में तीव्र स्नेह है, उन्हें तृष्णा और मोहरहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहचान नहीं है। अमुक मोह दूर किये बिना, धर्म के समीप आना नहीं होता। खर्च करने से पैसा नष्ट नहीं होता, यह लौकिकन्याय का सिद्धान्त है। मध्यस्थभाव से यथार्थरूप से प्राकृतिक नियम समझना चाहिए कि दान देने से धन नष्ट नहीं होता, किन्तु पुण्य नष्ट होने से धन नष्ट होता है।

निर्लोभी अकषायी पवित्र आत्मस्वरूप की पहचान होने के पश्चात् शुद्धात्मा का लक्ष्य निरावलम्बी ज्ञानभाव ही रहता है; अत: सर्व प्रथम संसार के प्रति अशुभराग छूट जाने के पश्चात् सच्चे धर्म की प्रभावना के लिए लोभकषाय का त्याग होता है। सच्चे धर्म की साधना करनेवाले मुनिगण स्थिर रहें, साथ ही मेरा वीतरागभाव बढ़ जाए – ऐसी भावनावाले गृहस्थ के अशुभ से

बचने के लिए दानादि क्रिया हुए बिना नहीं रहती। यहाँ पर की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु गुण की रुचि में, राग सर्वथा दूर नहीं हुआ; इसलिए जो राग रहा, उसकी दिशा वह गृहस्थ बदलता है किन्तु शुभराग को धर्म में सहायक नहीं मानता। मैं पर से सर्वथा भिन्न निवृत्तिस्वरूप ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसी स्वाधीन तत्त्व की रुचि, राग का नाश करनेवाली हैं; इसलिए ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्गुणों की रुचि हुए बिना नहीं रहती।

स्वरूप की सच्ची पहिचान होते ही तुरन्त त्यागी हो जाए – ऐसा नियम नहीं है। जिसे स्वरूप की सच्ची पहिचान हो जाए, उसके व्यवहार-नीति और पारमार्थिक सत्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जहाँ पारमार्थिक सत्य है, वहाँ व्यवहार में सत्य वचनादि होते ही हैं। जिसने सत्य का भान किया है, उसे असत्-खोटी समझ का अंश भी नहीं रहता – यह अटल नियम है।

रुचि का अनुयायी वीर्य (पुरुषार्थ-बल) है। जिसमें जिसका प्रेम होता है, वह उस इष्ट की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता ही है। जिसमें जिसकी रुचि होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह मर-पचकर भी प्रयत्न करता है – ऐसा नियम है। यदि कोई पराधीनता का दुःख देखे, तो 'मैं दोष-दुःखरहित अकेला हूँ' – ऐसा विचार करके अन्य सबकी उपेक्षा कर छूटने का उपाय अवश्य करे। जैसे, कीड़ा या लट, पत्थर के नीचे दबा हुआ भी जीने के लोभ से, शरीर पर बहुत वजन होने पर भी भले ही देह के टुकड़े हो जायें – ऐसा अन्तरङ्ग में जोर देकर बाहर निकलता है; इसी प्रकार मकोड़ा जब किसी से चिपट जाता है तो भले ही आधा

शरीर टूट जाए किन्तु छोड़ता नहीं; उसी प्रकार प्रत्येक जीव अपने सङ्कल्पित कार्य को करता हुआ दिखता है; अत: यह सिद्ध हुआ कि समझ के अनुसार, रुचि के अनुसार पुरुषार्थ होता है।

जिसे जिस प्रकार का श्रद्धान दृढ़ हो जाए व इष्ट मान ले, वह उसकी प्राप्ति के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करता ही है, उसके लिए वह अपने शरीर की भी परवाह नहीं करता। (परवस्तु को कोई प्राप्त नहीं कर सकता, कल्पना से प्राप्त की – ऐसा भले ही मान ले।) लौकिक कहावत है कि देह का नाश हो तो हो जाए, किन्तु इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति करके ही रहेंगे।

उसी प्रकार जिन्होंने अनन्त काल की पराधीनता, राग–द्वेष –अज्ञानभाव से छूटने का उपाय अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा जान लिया; उन्हें उसकी रुचि क्यों नहीं होगी ? मैं सदैव अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ; रागादि पुण्य–पाप, शुभाशुभ, पर–उपाधि और देहादि मेरे में नहीं हैं; मैं सदा पर से भिन्न ही हूँ – ऐसा जिसने जान लिया है, वह यथार्थस्वरूप की नि:शङ्क श्रद्धा में ज्ञानबल द्वारा, स्वाधीनस्वरूप की एकाग्रता से, पूर्ण सिद्धपद प्राप्त करने के लिए स्वरूपरस में लीन हो तो कैसे डिगेगा ?, अर्थात् नहीं डिग सकता। भले ही शरीर छूट जाए, किन्तु इस पूर्ण स्वभाव की शुद्धता की सन्धि और शुक्लध्यान की श्रेणी न छूटे – ऐसा यह अपूर्व अवसर (अब–निश्चय, सर–श्रेयोमार्ग) मेरे लिए कब आयेगा – ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

'मैं, पर से भिन्न, त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप हूँ; किसी के द्वारा रुकनेवाला नहीं, पररूप नहीं, रागादिरूप नहीं, दूसरे की तरफ

झुकाव का अशुद्धभाव तो एक समय की अवस्था जितना ही है। मैं नित्य टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप हूँ; किसी निमित्त की अपेक्षावाला नहीं हूँ – ऐसा समझनेवाला प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र भगवान है। सर्वज्ञ भगवान के शासन में सम्पूर्ण जगत् का न्याय निहित है। तटस्थतापूर्वक स्वतन्त्रस्वभाव से विचार करने पर सर्वज्ञ के उक्त न्याय के अनुसार सारा ज्ञान, आत्मा में है।

बहु उपसर्ग-कर्ता के प्रति भी क्रोध नहिं – 'बहु' शब्द उपसर्ग की असीमता सूचित करता है। ज्ञानी का उपसर्ग के समक्ष भी 'बहु क्षमास्वभाव' जागृत है। क्षमा, अर्थात् स्वभाव से परिपूर्ण ज्ञानदृष्टि में किसी के दोष दिखाई नहीं पड़ते, क्योंकि कोई वस्तु दोषरूप नहीं है। भले ही घोर प्रतिकूलता का प्रसङ्ग ज्ञान की स्वच्छता में जाना जाए, किन्तु उससे ज्ञानी को बाधा नहीं होती। अशुभकर्म के संयोग में ज्ञानी जानता है कि विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारीपर्याय पहले अपनायी थी; उसी भूल का फल यह अशुभकर्म का संयोग वर्तमान में दिखायी दे रहा है किन्तु अब मैं त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वभाव का स्वामी होने से भूलरूप परिणमन नहीं करता, अपितु निर्दोष ज्ञाताभावरूप होने से भूलरहित स्वभाव के भान में स्थिर होकर भूतकालीन अवस्था और निमित्त का मात्र ज्ञान करता हूँ।

ज्ञानी, जिन संयोगों को देखता है, उनमें हर्ष-शोक नहीं करता। निर्दोष ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य रखकर भी ज्ञानी के अल्प राग-द्वेष होते हैं किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है। मैं, त्रिकाली ज्ञानस्वभावी हूँ, इसकी मुख्यता है। ऐसा विचारकर निःशङ्कस्वभाव में सच्चा

अभिप्राय लाओ कि मैं राग-द्वेष-मोहरूप नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; इसलिए कषाय, अंशमात्र भी करने योग्य नहीं है। राग-द्वेष न होने दूँ, अर्थात् जागृत ज्ञानस्वभाव की अपरिमितता में स्थिर रहूँ - ऐसा अभिप्राय जागृत रखना ही ज्ञान की क्रिया है।

अभी अल्प राग का अंश होता है, यह अलग बात है किन्तु हमें राग-द्वेष करने पड़ते हैं - ऐसा मानने में तो बहुत अहित है। मैं दूसरों को समझा दूँ, मेरे द्वारा दूसरे समझते हैं, मेरी सलाह से सब भली प्रकार से रहते हैं; इस प्रकार पर की व्यवस्था का कर्तृत्व एवं ममत्व रखूँ - ऐसी मान्यता महापाप है। पर का कुछ भी कार्य कर सकूँ - यह विपरीत अभिप्राय है और इस अभिप्राय में अनन्त आसक्ति है; इसलिए सर्व प्रथम इस अभिप्राय को बदलना चाहिए।

मैं सदा ही पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूपी हूँ। मैं ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकता। मैं पराश्रय से होनेवाले भाव को नित्य-स्वभाव की भावना द्वारा दूर करनेवाला हूँ। 'पर' मुझे सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्तव्य तो यह है कि रागरहित, परावलम्बनरहित ज्ञान करूँ। मैं पूर्ण पवित्र ज्ञानमात्र हूँ - ऐसे अभिप्राय को मैं निरन्तर बनाये रखूँ और स्वरूप का दृढ़ता बढ़े - यही हितकर है।

भले ही किसी को प्रसङ्गवश सलाह-सूचना देने का विकल्प आवे, किन्तु उसमें किसी प्रकार का आग्रह या ममत्व नहीं होना चाहिए। मेरी बात से कोई सुधरे या बिगड़े - इसका कर्तृत्व -ममत्व मैं छोड़ देता हूँ। तत्पश्चात् वह सुधरे या न सुधरे - वह उसके भावों पर निर्भर है; मैं किसी का कुछ कर नहीं देता। मैं तीनों काल में ज्ञान ही करता हूँ - ऐसा मानने से राग-द्वेष होने का

अवकाश नहीं रहता। सुधारना तो उसे स्वयं को है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में कुछ बिगाड़ नहीं होता। वर्तमान एक समय की अवस्था में पराश्रय करके जीव नये राग-द्वेष करता है - यह उसकी भूल है। इस भूल को वह नित्य ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य और स्थिरता द्वारा दूर कर सकता है; इसलिए समाधान स्वयं को ही करना है, पर से कुछ भी नहीं है। इसी में अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

मैं दूसरे को शीघ्र समझा दूँ, मैं पर की व्यवस्था रख सकता हूँ - ऐसी सब मान्यताएँ मिथ्या हैं। जिसने आपने आपको सुधार लिया, उसके लिए सारा जगत् सुधर गया; जिसने स्वाधीनस्वरूप द्वारा निजात्मा को अविरोधरूप से जान लिया, उसको कोई विघ्न नहीं है। चाहे अनुकूल या प्रतिकूल बहुत उपसर्ग आये, उनसे ज्ञान को क्या ?

उपसर्ग चार प्रकार के हैं - देवकृत, मनुष्यकृत, पशुकृत और अचेतनकृत। उनमें किसी के प्रति भी क्रोध का विकल्प भी नहीं आवे - ऐसी भावना है।

कोई माने कि मैं अपने भाई, मित्र, पुत्र, समाज आदि का इतना उपकारी रहा हूँ, फिर भी वे मेरी निन्दा आदि द्वारा प्रतिकूलता उपस्थित करके मुझे हैरान कर देते हैं - ऐसा मानना भी मिथ्या / भ्रम है। इन सब संयोगों में पूर्व कर्म निमित्त हैं। तू उनमें अपने इष्ट-अनिष्टरूप होने की कल्पना करता है। अरे! निमित्त आत्मा में नहीं है, और वह तुझे जबरदस्ती से बिगाड़ नहीं कर सकता।

कोई भी परवस्तु दूसरे को राग, द्वेष या क्रोधादि नहीं करा

देती। आत्मा अरूपी, ज्ञानघन, ज्ञानपिण्ड है; उसमें राग-द्वेष उपाधि का अंश नहीं है। तब परवस्तु के प्रति क्षोभ किसलिए करना चाहिए? जो वस्तु पर है, वह सर्वथा भिन्न अपने स्वभाव में स्थित है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को कोई भिन्न जान ले तो उसे ज्ञात होगा कि मेरे में न क्रोध है, न द्वेष है, न हठ है, न उपाधि है।

आत्मा, ज्ञाता है, साक्षी है; उसके अरूपी ज्ञान में प्रीति या अप्रीति आदि विकल्पों का अंश भी नहीं है। परवस्तु किसी के लिए इष्ट-अनिष्ट नहीं है। लौकिकजन, परवस्तु में इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख की कल्पना कर लेते हैं और अपने को रागवाला मानते हैं परन्तु यदि आत्मा, रागादिरूप हो तो राग दूर नहीं किया जा सकता। जीव, पर के कारण से अपने को सुखी-दुःखी मानता है - यह भी वास्तविक नहीं है। यदि जीव को पर से दुःख होता हो तो जीव कभी क्षमा नहीं रख सकता, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा चाहे तो कितने भी प्रतिकूल संयोगों या प्रसङ्गों में क्षमा, समता, शान्ति रख सकता है; उसमें कोई बाधा नहीं दे सकता। निमित्त चाहे जैसा मिले, किन्तु हम उसमें से सुलटा अर्थ कर सकते हैं।

आत्मज्ञानी की भी कभी निन्दा होती है। उनकी निन्दा करनेवाले पुस्तकें लिखते हैं किन्तु उनसे ज्ञानियों की आत्मा को क्या? अरे! किसकी निन्दा करता है?

प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है, वाणी तो परमाणुओं की अवस्था है। वे निन्दा के शब्द तो तुमको यह कहते नहीं कि तुम द्वेष करो, किन्तु अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता द्वारा 'यह मेरी निन्दा करता है' - ऐसा मानकर अपने भाव में द्वेष करता

है, किन्तु ज्ञानी को राग–द्वेष करने का भाव ही नहीं होता तो फिर अन्य कौन राग–द्वेष करा सकता है ? ज्ञानी, परवस्तु द्वारा राग–द्वेष–मोह होना नहीं मानता। अपनी निर्बलता से उन्हें अल्प राग–द्वेष होता है किन्तु यह बात गौण है।

ज्ञानी जानता है कि निन्दात्मक शब्दों के जड़ रजकण पुस्तकरूप होनेवाले हों तो उनको कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। ऐसा जाननेवाले को चाहे कितने ही परीषह आओ, वे क्षमा ही रखते हैं। 'ज्ञाता रहूँ' – यह मेरा सहजस्वरूप है। समतारूप की स्थिरता बढ़ाने की उत्तम कसौटी का यह समय है। सामनेवाले जीव मुझे दु:ख देने में निमित्त होते हैं – ऐसा विचारकर वह उनसे द्वेष नहीं होता, किन्तु उनकी अज्ञानदशा देखकर करुणा आती है। किसी के प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होना चाहिए, इस प्रकार समताभाव रखता है।

जीव जब तक परवस्तु में कर्तृत्व–ममत्व मानता है और पर से भिन्नत्व नहीं समझता, तब तक वह उसमें कर्तापने का अभिमान और राग–द्वेष करता है तथा पर का कर्ता–भोक्ता हूँ — ऐसी कल्पना करता है। अन्य किसी को इच्छानुकूल परिणमित कराना चाहे तो परसम्बन्धी विचारा हुआ यथेच्छ कभी नहीं होता और विपरीत मान्यता से राग–द्वेष दूर नहीं होते; इसलिए सर्व प्रथम निज–पर स्वरूप को जानो; उसका अभ्यास, अध्ययन, श्रवण, मनन करो। भाई ! सच्ची समझ बिना तेरी मान्यता विपरीत है।

लोग ऐसा सोचते हैं कि यह मेरा लड़का है, मेरा भाई है – यह ऐसा अहित कैसे कर सकता है ? किन्तु भाई ! संसार का ऐसा ही

नियम है – यह कोई नवीन बात नहीं है। अपना दुःख हटाने का सच्चा उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। लोक में बाह्य वस्तु को इष्ट मानकर उसे स्थिर रखने के लिए यह जीव कितना अधिक सावधान रहता है – तो फिर जिसे सच्चे हित (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति हुई है, वह उस सच्चे हित में किसी भी प्रकार का विघ्न कैसे आने देगा ? अर्थात् नहीं ही आने देगा।

यह अकषायदृष्टि द्वारा कषाय दूर करने की भावना है। चाहे जितने प्रतिकूल प्रसङ्ग उपस्थित हों, किन्तु उनके उपस्थित करनेवालों के प्रति क्रोध नहीं आता; मैं तो अपने क्षमास्वभावरूप हूँ। बाह्य निमित्तों को दूर नहीं करना है क्योंकि मेरे दूर करने से वे दूर नहीं होते, किन्तु उनके सम्बन्ध का निर्दोष ज्ञान करना है। निमित्तों को दूर करने की किसी की सामर्थ्य नहीं है किन्तु क्षमा बनाये रखना – यह अपने पुरुषार्थ के आधीन है। अज्ञानी, पर-निमित्तों को दूर करना चाहता है किन्तु उनका दूर होना जीव के आधीन नहीं है। कोई पर में पुरुषार्थ नहीं कर सकता और उससे कभी शान्ति भी नहीं मिल सकती। धर्मात्मा, निमित्त का लक्ष्य नहीं करता; स्वयं ही समताभाव, क्षमास्वभाव को धारण करता है।

विरोधी जीव को क्रोध व द्वेष करने से रोकना, इस जीव के सामर्थ्य की बात नहीं है किन्तु अपने में – सहजस्वभाव में समता रखना, यह उसकी स्वसत्ता की बात है। अरे ! घाणी में पेल दे तो भी अशरीरीभाव बनाये रखने की यह बात है, उत्कृष्ट साधकदशा की यह भावना है; इसलिए यहाँ उत्कृष्ट परीषह की बात की है। यह सहज वीतरागदशा की भावना है। निर्ग्रन्थ मुनिदशा में जब

निरन्तर आत्मसमाधि लगती है, तब बाहर क्या होता है ? – इसकी उसे सुध भी नहीं रहती। 'कौन बोले, कौन सुने और कौन समझावे ?' – ऐसी तटस्थ वीतरागभावना आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहचान करने से होती है।

परनिमित्तों को दूर करना, रखना या उनमें मेल-मिलाप करना या परिवर्तन करना, चेतन के अधिकार की बात नहीं है। उसको ऐसा निर्णय कर एक बार अपने सच्चे अभिप्राय की स्वीकारता तो देनी चाहिए। आत्मा की स्वाधीनता को स्वीकार कर मजबूती लाने से राग-द्वेष करने का उपाधिभाव (बन्धभाव) पूर्णतः उड़ जाता है। जो कार्य आत्मा के हाथ में है और करने योग्य है, उसे ही करना ज्ञानी का आशय है। अज्ञानी, बाह्य संयोगों को दूर करना चाहता है और उनसे राग-द्वेष-मोह करता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा मानता है कि अपने आश्रित, मात्र ज्ञानपरिणमन है। वह अपने ज्ञानपरिणमन के द्वारा समतास्वभाव में परिणमता है; इसलिए वह सहज ही राग-द्वेष, विषय-कषायों को जीतता है।

कभी घोर असाता को उदय में (जैसे, शरीर को घाणी में पेल देने के) घोर उपसर्ग आवें, तो भी ज्ञानी उस ज्ञेय का राग-द्वेष-रहित ज्ञान करता है। वह उसे जानता अवश्य है किन्तु वह जानने में अटकता नहीं; जो परमाणु अलग हो जाते हैं, वह उनका ज्ञानमात्र करता है। जिसे आत्मा की श्रद्धा है, वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसङ्गों में भी खेद नहीं करता, अन्तरङ्ग में क्षोभ नहीं करता – ऐसी उसके ज्ञान की दृढ़ता होती है। जब तक वह गृहस्थ-अवस्था में है और पुरुषार्थ में निर्बल हैं, तब तक ज्ञानी होते हुए भी उसे थोड़ी अस्थिरता

हो जाती है किन्तु अभिप्राय में यह अशरीरी वीतरागभाव का लक्ष्य रखता है और उसे प्रगट करने की भावना करता है।

पहले महान् मुनिराज हो चुके हैं, वे चाहे जितने उग्र परीषह में भी अपूर्व समता-समाधिभाव की सहजशान्ति में झूलते हुए ज्ञान की रमणता में स्थिर रहे हैं। 'देह, पेली जाती है' - ऐसे विकल्प को भी छोड़कर, उन्होंने अपने में ज्ञानघन वीतरागदशा बनाये रखी। जिसमें राग-द्वेष के विकल्पों का प्रवेश न हो - ऐसी अपूर्व साधकदशा शीघ्र आवे - ऐसी भावना रखी है।

यह धर्मात्मा, गृहस्थाश्रम में था या आत्मा में? स्वरूप की यथार्थ जागृति के भान द्वारा आत्मा की अपूर्वता का यह सन्देश है। अन्तरङ्ग में आत्मबल द्वारा स्थिरता रखने और वीतरागस्वभाव को सिद्ध कर उसीरूप होने की भावना यहाँ की गयी है। इसी भावना को करनेवाले के नि:शङ्क अभिप्राय में अपने भव का अभाव दिखता है।

'गृहस्थदशा में भी दृढ़तर सम्यक्त्व हो सकता है' - इस बात का परिचय कोई करे तो समझ में आवे। लोगों का बाह्यसंयोग की सावधानी की ओर लक्ष्य रहता है कि ऐसा संयोग होना चाहिए और ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञानी का ऐसा अभिप्राय नहीं होता; वह अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में राग या द्वेष नहीं करता। यहाँ अशरीरी, अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दमय भाव की महिमा बतायी है - **'धन्य हैं वे मुनिवर जो वर्ते समभाव।'** जिसके अन्तरङ्ग में उत्कृष्ट साधकदशा की रुचि यथार्थरूप से जमी हो- उसकी ऐसी ही भावना होती है।

वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब – छह खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती महा–वैभवशाली होता है, उसकी हजारों देव सेवा करते हैं, वह 48 हजार पाटण, 72 हजार नगर, 96 करोड़ सैनिकों का स्वामी होता है। ऐसा राजा वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान है। वहाँ सनातन जैन निर्ग्रन्थ मुनिधर्म हमेशा रहता है। चक्रवर्ती सम्राट अपने विशाल वैभव के साथ मुनि की वन्दना करने के लिए आता है और परम विनय–वन्दनापूर्वक उनकी स्तुति करता है – 'हे मुनिराज! आप बहुत ही पवित्र अवस्था में हैं' किन्तु मुनि को इससे मान को अंश भी नहीं होता।

'जिसको जो रुचता है, वह वही करता है।' – इस न्याय के अनुसार गुण का आदर करनेवाले को गुण रुचते हैं। वह गुण की रुचि उसके अपने ही कारण से है, और यदि कभी निन्दा करनेवाले को मुनि में दोष दिखाई पड़ें तो वह दोष भी उसी के कारण हैं; इसलिए मुनि को पर के सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं उठता। जो चैतन्य–आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा में, अपनी ज्ञानानन्द की सहज समता में महासुख मानकर पूर्ण स्थिरता में, एकाग्रता में स्थित है, उसे स्व–स्वरूप से बाहर निकलना कैसे रुचे? अर्थात् नहीं रुचता।

मुनि अवस्था में जो पवित्रदशा प्रत्यक्ष प्रगट होती है, उस उत्कृष्ट साधकदशा के प्रति इस गाथा में आदर व्यक्त किया गया है। वह दशा अपने में वर्तमान में नहीं है; इसलिए उसके प्रति अपनी रुचि व्यक्त की गयी है। अपने में कुछ पात्रता है और उस दशा के प्रति आदर है; इसलिए पूर्णता के लक्ष्य से यह भावना की गयी है। जिसे यथार्थस्वरूप की पहचान है – ऐसा सम्यग्दृष्टि ही ऐसी भावना कर सकता है।

लही भव्यता मोटूं मान, कवण अभव्य त्रिभुवन अपमान – तीर्थङ्करदेव सर्वज्ञ भगवान की धर्मसभा में किसी जीव के लिए यह ध्वनित हो कि 'यह भव्य है' तो इसके समान जगत् में दूसरा क्या सम्मान होगा ? किसी जीव के लिए सहजवाणी में आया कि 'यह जीव अपात्र है' तो जगत् में उससे अधिक भारी अपमान और क्या समझना चाहिए ? साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की वाणी किसी जीव विशेष को लक्ष्य कर कहे कि 'यह जीव सुपात्र है' तो अहो ! धन्य है !! जगत् में इससे अधिक भारी सम्मान और क्या है ?

जब गौतमस्वामी समवसरण (धर्मसभा) में प्रविष्ट हुए और मानस्तम्भ पारकर प्रभु (महावीरस्वामी) के सन्मुख हुए, तभी प्रभु की दिव्यध्वनि हुई कि 'अहो ! गौतम भव्य है' – ऐसी साक्षात् दिव्यध्वनि में प्रथम स्थान गौतम को ही मिला।

महावीर तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान प्रगट होने पर भी 66 दिन तक उनकी वाणी नहीं खिरी। सर्वज्ञ भगवान तो वीतराग हैं, उनके इच्छा नहीं होती, किन्तु भाषा-रजकणों का प्राकृतिक योग ही ऐसा होता है कि लोकोत्तर पुण्यवान गणधरपदवी पानेयोग्य जीव का उपादान जब तक प्रभु के सन्मुख नहीं होता, तब तक तीर्थंकर भगवान की वाणी दूसरे को निमित्त नहीं होती।

सौ इन्द्र, लाखों देव आदि असंख्यात प्राणी भगवान के दर्शन व वाणी सुनने के लिए आये, इन्द्र ने भी भगवान की भक्ति की, किन्तु 66 दिन तक भगवान की वाणी नहीं खिरी और गौतम के सम्मुख आते ही दिव्यध्वनि व्यक्त हुई; उस समय भी गौतम को अपने बड़प्पन का अभिमान नहीं हुआ, किन्तु वह प्रभु के सम्मुख

दीनता एवं नम्रता से विनयपूर्वक झुक गया। मुनिपद की प्रतिज्ञा कर ध्यान में लीन हो गया और तुरन्त ही सातवीं अप्रमत्त भूमिका, निर्विकल्पदशा हुई और चौथा मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ और उन्हें गणधरदेव की पदवी मिली।

साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा के बाद गणधरदेव की पदवी है। ऐसी पदवी पाकर भी गौतम अत्यन्त निर्मानता से कहते हैं:-

'धन्य प्रभु! आपकी दिव्यवाणी को भी वन्दन करता हूँ; धन्य प्रभु! आपका वीतरागमार्ग! क्या पूछूँ? सब समाधान हो गया। धन्य प्रभु! आपके अपूर्व उपकारी वचन सुनते ही भव्य जीवों के सम्पूर्ण सन्देह मिट जाते हैं और वे निरभिमानभाव से आत्मा में स्थिर हो जाते हैं। उस अनन्त उपकार का वाणी द्वारा क्या वर्णन करूँ!'

गणधरदेव की ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा है। पाँचवे ज्ञान (केवलज्ञान) को प्रगट करने का पुरुषार्थ है। ऐसी निर्मानी निर्ग्रन्थदशा का अपूर्व अवसर मुझे कब मिलेगा? ऐसी भावना यहाँ भायी गयी है।

यह निर्ग्रन्थ मार्ग ही मोक्षमार्ग प्रगट करनेवाला है; अन्य मार्ग नहीं। चक्रवर्ती राजा, मुनि का बहुत सम्मान करते हैं, हजारों का जनसमूह, अनेक राजा-महाराजा सपरिवार आकर उनका दर्शन करते हैं किन्तु मुनि को इससे अभिमान नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि आत्मा का सम्मान शब्द या विकल्प से नहीं होता; वह तो अपने भाव का फल है। कोई निन्दा या स्तुति करे तो वह नामकर्म की प्रकृति है, उससे मुझे कोई हानि-लाभ नहीं है - ऐसा माननेवाले मुनिवर धन्य हैं।

देह जाय पर माया नहिं हो रोम में – सर्वोत्कृष्ट साधक –दशावाले मुनि भी पूर्ण शुद्धता के पुरुषार्थ में वर्तते हैं। उस समय कभी देहनाश का प्रसङ्ग आवे, कभी घोर परीषह का प्रसङ्ग आवे तो भी वे देह के प्रति अंशमात्र भी ममता नहीं करते; पुरुषार्थ की स्थिरता से छूट कर राग–द्वेष में नहीं अटकते। जहाँ सरल पुरुषार्थ होता है, उसमें कुटिलता को स्थान नहीं होता। निराबाध पुरुषार्थ पूर्णता के लक्ष्य में चालू ही रहता है। उन्होंने पूर्ण केवलज्ञान के ऊपर ही सुनिश्चल दृष्टि डाली है, अर्थात् वे उसमें अपने पुरुषार्थ को लगाकर सतत, अबाध स्थिरता में लीन रहते हैं। इस बीच में यदि देहनाश का प्रसङ्ग आ जाए तो भी पुरुषार्थ की गति नहीं बदलती; मोहभाव या माया का अंश भी नहीं आता; कभी पुरुषार्थ की वक्रगति नहीं होती। 'ऐसे वीतरागभाव का पुरुषार्थ जिस काल में प्रगट करूँगा, वही स्वकाल धन्य है' – ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

यहाँ कहने का आशय यह है कि देहनाश के समय भी मेरा अतीन्द्रिय पुरुषार्थ सतत निराबाध रहे; देह का विकल्प भी नहीं रहे। कभी घोर उपसर्ग हो तो अपूर्व समाधिमरण (पण्डितमरण) की जागृति बढ़े; देह जाते हुए मेरे रोम में भी माया न हो; किसी भी काल में स्वभावपरिणति की गति विपरीत न हो – ऐसा अपूर्ण अवसर कब आवेगा ? ऐसी यह भावना है।

लोभ नहिं हो प्रबल सिद्धि निदान जब – वचनसिद्धि, अणिमा आदि लब्धि के प्रगट होने पर भी उन्हें उपयोग में लेने का विकल्प भी नहीं आता। नव कोटि–विशुद्ध ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, सत्यव्रत, अहिंसा आदि संयमभावनागुण, वीतरागता, समता बढ़ने

पर महापुण्यवन्त के ऋद्धियाँ (वचनसिद्धि, अणिमा, महिमा) आदि प्रगट होती हैं किन्तु ये ऋद्धियाँ प्रगटी हैं या नहीं? – यह देखने के लिए मैं अपना उपयोग नहीं लगाऊँ – ऐसी भावना है।

मुझ में अनन्त सुख है, मैं स्वयं आनन्दघन सिद्ध हूँ; इसमें जड़ पुण्य की लब्धि का विचार किसलिए? अमृत जैसे उत्तम आहार को खानेवाला, मल खाने का विचार भी नहीं करता; उसी प्रकार मुनि को पूर्ण शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य रागादि करने का विचार भी नहीं होता। 'पूर्ण शुद्ध निजपद न प्रगटे, तब तक एक समय भी प्रमाद में लिप्त होऊँ तो बहुत हानि हैं' – ऐसा जिसने जान लिया है और पूर्ण होने की दृढ़तर रुचि जिसकी बढ़ती जाती है, वह अपने पुरुषार्थ को उपाधि में कैसे लगायेगा? नहीं लगायेगा!

किसी मुनि के थूक या मूत्र में भी लब्धि होती है किन्तु वह पुण्य की लब्धि है, इसका आत्मार्थी विचार नहीं करते। जहाँ पूर्ण निर्लोभ और वीतरागदशा का दृढ़ पुरुषार्थ है, वहाँ किसी पर निमित्त में अटकना नहीं होता। विशेष बलवान सिद्धि प्रगट होने पर भी, उसके सम्बन्ध में विकल्प नहीं हो – ऐसी स्थिरता का अपूर्व स्वसमाधियोग कब आवेगा? – ऐसी यह भावना है। ●●

काव्य - 9

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश रोम नख के अंगे श्रृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

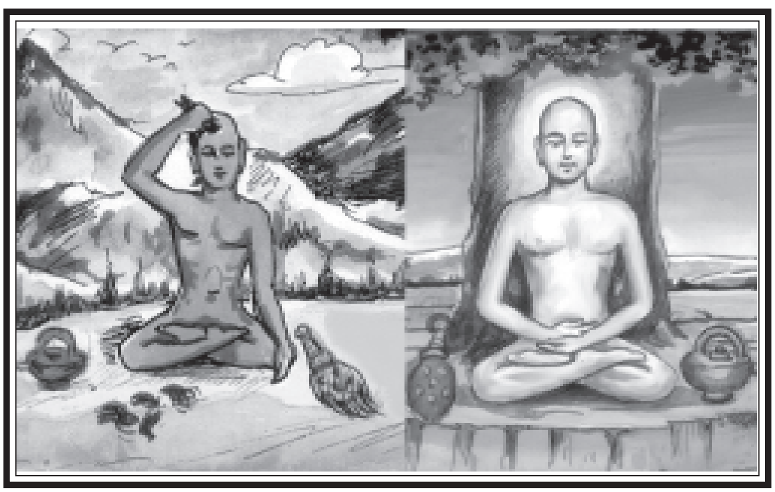

नग्नभाव मुंडभावसहित अस्नानता,
अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जब।
केश-रोम-नख आदि अङ्ग शृङ्गार नहिं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ-सिद्ध जब ॥
अपूर्व.......... ॥

काव्य - 9 पर प्रवचन

'वह अपूर्व अवसर धन्य है जब देह, मात्र संयम के लिए ही हो, वह नग्न रहे, अर्थात् वस्त्रसहित नहीं हो; द्रव्य और भाव दोनों से नग्न (निर्ग्रन्थ) हो। अन्तरङ्ग में देहादि की आसक्ति का अभाव –अनासक्ति और बाह्य में प्राकृतिक दिगम्बर देह। जब देह के प्रति राग नहीं तो राग का निमित्त, वस्त्र भी नहीं होना चाहिए। जिसे शरीर की कुशलता के प्रति आसक्ति का भाव नहीं है, जो अशरीरीभाव में रहता है – ऐसे मुनि के देह, संयम हेतु ही होती है।'

29 वें वर्ष में श्रीमद् ने ऐसी ही भावना भायी थी। तीन कषाय के अभावरूपी राग दूर होते ही बाह्य कृत्रिमता भी दूर हो जाती है। सर्व प्रथम दृष्टि में से देह के प्रति ममत्वभाव दूर हुआ है। (तत्पश्चात्) बाह्य-अभ्यन्तर नग्नभावरूप निर्ग्रन्थता की ही भावना बढ़ाता है। ऐसी मुनिदशा द्रव्य-भाव से प्रगट करूँ कि मेरे अविकारी चैतन्यस्वरूप में न पुण्य-पाप है, न अस्थिरता और न बाह्य में वस्त्र। ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा हुए बिना मोक्षदशा प्रगट नहीं होती। यहाँ तो आसक्ति का सर्वथा निरोध करने का दृढ़तर अभिप्राय प्रगट होता है।

इस काव्य में 12 वीं गाथा तक मुनित्व की भावना की गयी है और कहा गया है कि मेरे पूर्ण स्वरूप में स्थिर रहने का उत्साह (स्वरूप में सावधानी) रहे; उसमें जरा भी असावधानी (प्रमाद) का अंश भी न हो।

साधक को प्रतिकूलता की अग्निरूप वृत्ति में जलना नहीं है और अनुकूलता की बरफरूपी वृत्ति में गलना नहीं है; अन्तरङ्ग में

– ऐसी परम उदासीनता होनी चाहिए। ध्याता–ध्यान–ध्येय का विकल्प छूटकर पूर्ण स्थिरता रहे – ऐसी दशा कब आवेगी ? यही भावना है।

'मुण्डभाव', अर्थात् मस्तक, दाढ़ी आदि के केश बढ़ाना नहीं तथा छुरे इत्यादि से बाल नहीं कटवाना, किन्तु हाथों से केश उखाड़ने (केशलुञ्चन) को यहाँ मुण्डभाव कहा है।

जहाँ देह की आसक्ति का अभाव, अर्थात् अशरीरीभाव वर्तता है, वहाँ बाह्य में इन्द्रिय और विषय–कषायों का मुण्डन भी हो ही जाता है – ऐसा ही दोनों का निमित्त–नैमित्तक सम्बन्ध है। पाँच इन्द्रिय के विषयों और चार कषायों का त्याग और केशलुञ्जन – यह दश प्रकार का मुण्डन है। स्वरुचि के बल द्वारा पाँच इन्द्रियों के विषयोंसम्बन्धी राग–द्वेष–मोह की रुचि को नष्ट कर देना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव कर देना – इस प्रकार कषायभाव का मुण्डन होने पर विभाव की जाति पुनः अंकुरित न हो, उसका मूल से क्षय हो – ऐसी भावना है।

जहाँ निर्ग्रन्थ साधकदशा होगी, वहाँ बाह्य में केशलुञ्चनरूप नैमित्तिककार्य भी अवश्य होगा – ऐसा सनातन नियम है किन्तु यह काल की महिमा है कि वीतरागमार्ग से विपरीत वेषधारी साधु जगत् में प्रगट हुए और कहने लगे कि – 'उस्तरे से बाल कटाओ, स्नान करो, वस्त्र पहनो इत्यादि।' किन्तु भाई रे! जो सनातन निर्ग्रन्थ मुनिधर्म है, उसमें अपनी दृष्टि से अन्य विपरीत कथन करना या मिला देना, वह अनन्त ज्ञानियों से प्रतिकूल है। अपने से वैसा पुरुषार्थ न हो सके – यह बात अलग है और मान्यता ही विपरीत

कर देना – यह अलग बात है। यह त्रैकालिक नियम है कि मुनिधर्म निर्ग्रन्थ ही होता है। बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह से रहित और अभ्यन्तर में मिथ्यात्व, रागादि कषाय से रहित नग्नत्व – इस प्रकार द्रव्य और भाव दोनों से अनासक्ति हो, यही त्रैकालिक मार्ग है। किसी प्रकार के शस्त्र या अस्त्र बिना हाथ द्वारा ही केश का लोंच करने का व्यवहार है, बाह्य निमित्त ऐसा ही होता है। त्रिकाल सर्वज्ञ के शासन की एक ही विधि है; उसमें अन्य मार्ग कैसे हो सकता है ?

अभिप्राय में भूल होने से सम्पूर्ण तत्त्व की हानि हो जाती है। नव त्तत्व क्या हैं ? मोक्षमार्ग क्या है ? इसकी श्रद्धा बिना साधक आगे बढ़ सकता है – ऐसा कोई माने तो वह अपने को अनन्त ज्ञानियों से अधिक मानता है। यदि कोई अपने वीतरागमार्ग –मुनिधर्म में नही रह सकता हो तो वह स्पष्ट कहे कि मैं इस मार्ग में नहीं रह सकता। जिनशासन का धर्म तो यही वीतरागमार्ग है। जो इसकी सच्ची प्ररूपणा करता है, उसने अविरोधमार्ग को खड़ा / जीवित रखा है और जो जिनशासन–धर्म के विरुद्ध अपने मनमाने अभिप्राय प्रगट करता है, वह सर्वज्ञ–वीतराग कथित मोक्षमार्ग का विरोध करता है अथवा स्वयं अपना ही विरोध करता है।

अनन्त ज्ञानियों ने जिस न्याय को कहा है, उस न्याय का विचार किए बिना कोई उससे विपरीत अनुमान करे तो करो, किन्तु उससे सच्चेमार्ग को कोई बाधा नहीं आती। लोगों को शरीर के प्रति बहुत ममता है; इसलिए अपनी बुराईयों को छिपाने के लिए कुतर्क करते हुए कहते हैं कि वस्त्र तो मुनि की शीत–उष्ण से रक्षा

करते हैं; अतः वस्त्र, संयम के साधक हैं; इसलिए इस काल में वस्त्रसहित ही मुनि होना चाहिए – ऐसा हमें लगता है, किन्तु जो मार्ग जिनेन्द्रदेव ने कहा है, उसकी प्रतीति और ऐसी ही साधकदशा के बिना मोक्षमार्ग नहीं है। चाहे स्वयं कोई मुनिधर्म में न रह सके, किन्तु सर्वज्ञ-वीतरागमार्ग की श्रद्धा और न्याय में अन्यथापन नहीं करना। उक्त प्रकार की साधकदशा ही मोक्ष का कारण है। पूर्ण शुद्ध आनन्दघन आत्मा को प्रगट करने का मार्ग, तीनों काल यही है; अन्य नहीं।

प्रश्न : देश-काल के कारण उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता क्या ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि कहा है –

'एक होय तीन काल में, परमारथ का पन्थ।'

'मैं पूर्ण शुद्ध हूँ' – यह निश्चय (परमार्थ) है और राग-द्वेष दूर कर स्थिर होने का पुरुषार्थ ही, ज्ञान की क्रिया का व्यवहार है। जब अन्तरङ्ग में विरक्ति होती है, तब बाह्य निमित्त भी तद्नुकूल होते हैं। परम उपशमभाववाले (वैराग्यभाववाले) जीव का शरीर भी स्नानादि संस्काररहित रूखा एवं विरक्त होता है, यह प्राकृतिक निमित्त-नैमित्तिक योग है।

तीनों काल में परमार्थ का एक ही मार्ग होता है। पहले भी घी, गुड़ और आटा की सुखड़ी (एक गुजराती मिठाई) बनाते थे, आज भी उन्हीं तीन वस्तुओं में सुखड़ी बनाते हैं किन्तु उसके बदले मिट्टी और बालू की सुखड़ी कोई नहीं बनाता। पूर्व काल में जिस प्रकार से जैसी सुखड़ी होती थी, उसी प्रकार से तीनों काल

में होती है। परन्तु हाँ, पुराने घी, गुड़ और आटा के रस की अपेक्षा मिठास सहज ही घट जाती है किन्तु उसकी जाति तो वैसी ही बनी रहती है। कोई इससे विपरीत कहे या माने तो जैसे वह मिथ्या है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और रागरहित ज्ञान की स्थिरता –रमणतारूप वीतरागचारित्ररूप मोक्षमार्ग त्रिकाल अबाधित एवं सनातनमार्ग है।

निर्दोष वीतरागदशावाले साधक मुनि का दिगम्बरस्वरूप एवं वेष तीनों काल में एक ही प्रकार का होता है; उसको कोई अन्यरूप बताए तो वह मिथ्या है। — 2467 वर्ष पूर्व भी इस भरतक्षेत्र में मुनिधर्म ऐसा ही था, उस समय हजारों मुनियों के संघ थे। उस समय साक्षात् शुद्ध चिदानन्द, आनन्दघन, चैतन्यमूर्ति, ज्ञानपुञ्ज भगवान् तीर्थङ्करदेव सर्वज्ञप्रभु इसी क्षेत्र में विराजमान थे। उनके कितने ही वर्षों बाद बारह वर्षीय दुष्काल में वीतरागधर्म के नाम पर शिथिलाचारी धर्म चला, यह अवसर्पिणीकाल ही महिमा है।

इस काल का आकार सर्पवत् है। सर्प का शरीर, मुँह की तरफ पुष्ट / मोटा होता है, तथा पूंछ की तरफ पतला होता जाता है; उसी प्रकार अवसर्पिणी में प्रथम धर्म का उन्नत काल होता है किन्तु काल की वृद्धि के साथ–साथ उसमें धर्म का ह्रास होता जाता है, तथापि सर्वथा अभाव नहीं होता। वर्तमान पञ्चम काल के अन्त तक चैतन्यशक्ति के विकास करनेवालों की संख्या घटती जाएगी, किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होगा। यदि कोई गृहस्थ हो तो पुरुषार्थ की मन्दता हो सकती है किन्तु श्रद्धा, अर्थात् सच्चे अभिप्राय

की अपेक्षा मुनि तथा गृहस्थ में अन्तर नहीं होता; दोनों को एक ही सनातन निर्ग्रन्थमार्ग की श्रद्धा होती है।

कोई कहे कि जिस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव बदलता है; उसी प्रकार धर्म भी बदलता है, तो यह बात मिथ्या है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। कोई स्वच्छन्दवृत्ति को माने तो यह न्याय नहीं है किन्तु कुतर्क एवं विपरीतता है। कोई निर्ग्रन्थ मुनिधर्म न पाल सके तो अपने को गृहस्थपद में माने, गृहस्थ रहे, किन्तु अभिप्राय में (श्रद्धा में) उल्टी मान्यता और विपरीत प्ररूपणा न करे। अपने को वीतराग का मार्ग समझ में न आवे या न रुचे तो इससे सनातनमार्ग को शिथिल नहीं बना लेना चाहिए।

जैनधर्मानुसार तीनों कालों में नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थदशायुक्त साधक-अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रगट करने का एकमात्र उपाय है। वर्तमान काल में पञ्च महाविदेहक्षेत्र में तो अन्य मार्ग है ही नहीं और इस क्षेत्र में भी मोक्षमार्ग के प्रयोग मन्द हो जाने से कोई मूल जैनधर्म को अन्य प्रकार कहे, तो उसकी बात ठीक नहीं। सनातनमार्ग से विपरीत मानने में अपना ही भयङ्कर अहित है।

यहाँ 'मुण्डभाव' का अर्थ मस्तक के बालों को हाथ से उखाड़ने की बात है। भाव में शुद्धता यह 'लोञ्च' का निश्चय अर्थ है। 'मैं ज्ञानानन्द पवित्र शुद्ध वीतरागी हूँ' - ऐसी श्रद्धा, स्वानुभव (स्वसन्मुखता) के बल द्वारा आत्मा में विशेष स्थिरता होने से विशेष निर्विकारभाव उत्पन्न होता है, तब सहज ही बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थपना होता है।

नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता – मुनि अपने शरीर को जल से साफ नहीं करते। सन्त–मुनियों का मार्ग अस्नानवाला ही है। वीतरागदशा का साधक जैन मुनि गीले वस्त्र से भी शरीर को साफ नहीं करता। स्नान, शृङ्गार में गिना जाता है और शृङ्गार, मुनिदशा में नहीं होता। अब कुछ लोग कहने लगे हैं कि थोड़े से पानी से स्नान करना ठीक है, परन्तु ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

वास्तविक तत्त्वदृष्टि से, न्यायपूर्वक मुनि का मार्ग तीनों काल में नग्न ही होता है; उसमें कोई अपवाद, शिथिलता या विपरीतता नहीं होती। लोकोत्तरमार्ग और अतीन्द्रिय साधकदशा में पुरुषार्थ की हद क्या है ? आन्तरिक अनुभव किये बिना उस पुरुषार्थ का महत्व ठीक वैसे ही समझ में नहीं आता, जैसे विषयसेवी को ब्रह्मचर्य का महत्व समझ में नहीं आता।

विषय–कषाय का कीड़ा प्रतिदिन शरीर को धोकर अच्छे वस्त्र पहनता है, जबकि वीतरागदशा को साधनेवाला ब्रह्मचारी मुनि जीवपर्यन्त स्नान नहीं करता। निर्दोषमुद्रावाला मुनि बाह्य –अभ्यन्तर में सुन्दर और पवित्र है। मुनि के रूखे विरागी शरीर को देखते हुए भी 'वह महान् पवित्रता की निधि है' – ऐसी उनकी सौम्य मुखमुद्रा कहती है। स्नान करने का विकल्प भी उनके नहीं होता। मृतक शरीर की शोभा क्या ? जैसे, मल के ढ़ेर पर शोभा करने की इच्छा कोई नहीं करता; उसी प्रकार मुनि को शरीर की शोभा करने की इच्छा नहीं होती। साधारण बुद्धिवालों को यह बात समझना असम्भव–सा है।

जैनधर्म लोकोत्तरमार्ग है, वह परिचय किये बिना समझ में नहीं आता। समझे बिना कुतर्क से पार नहीं पड़ता। छह खण्ड के

स्वामी चक्रवर्ती को भी राज्य छोड़कर नग्न-मुनि होकर ही विहार करना पड़ता है। वह देहादि की ममता छोड़कर वीतरागसमाधि में स्थिर, चैतन्यमय ज्ञानपिण्ड के सहज आनन्द में लीन हो जाता है। ज्ञान-ध्यान-वीतरागता में मस्त रहता है। उनके क्षण-क्षण में, छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान पलटता रहता है। सातवें गुणस्थान में ध्याता, ध्यान और ध्येय का विकल्प छूटकर परम समता-समाधि में स्थिर होकर वे पत्थर की मूति-जैसे हो जाते हैं। जैसे, तपाये हुए शुद्ध सुवर्ण का ताजा लहलहाता ढ़ेला ही पड़ा हो तथा जैसे, गम्भीर महासागर में मध्यबिन्दु से लहरें उछलतीं हैं, वैसे ही एकाग्रता में - स्वरूपलीनता में उनके उग्र पुरुषार्थ उछलता है, जिससे ऐसा भासित होता है कि उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी कर ली हो। ऐसी उत्कृष्टदशा कैसी होगी? इसका विचार करना चाहिए।

जैसे, समुद्र में ज्वार, समुद्र के अन्दर के मध्यबिन्दु से ही आती है; वैसे ही चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञानसमुद्र है, उसे किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्तर में से ही पुरुषार्थ प्रगट होता है। साधक ऐसी अप्रमत्तभूमिका में अपूर्व पुरुषार्थसहित अपने स्वरूप के उत्साह में स्थिरता का उग्र प्रवर्तन करता है। वह अवस्था सहज आनन्ददशा है, जिसमें अनन्त गुणी शुद्धि स्वयं बढ़ जाती है। हमें उस दशा को देखना चाहिए या बाह्य निमित्तों को? देहाध्यास से रहित आत्मा का जो निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग है, वही त्रिकाल वस्तुस्थिति है। साधारण बुद्धिवाले जीवों को लगता है कि यह तो प्राचीन युग की बातें हैं। परम पवित्र पुरुषार्थ इसी वीतराग साधकदशा की भूमिका में कैसे होता है, इसके गम्भीर आशय समझने की

पात्रता होने पर जीव उसके बाह्य–अभ्यन्तर दोनों पहलुओं को विरोधरहित समझ लेता है।

काल बदल गया और स्वच्छन्दी लोग वीतरागमार्ग को विपरीत मानने लगे। जैसे–जैसे लोगों में आराम–परस्ती और देह की ममता बढ़ती गयी, वैसे–वैसे वीतराग जिनशासन के नाम पर स्वच्छन्द / शिथिलाचार पनपने लगा और उसका समर्थन करने के लिए मुनि–अवस्था में वस्त्र–पात्र आदि के परिग्रह का विस्तार हुआ। इस प्रकार मुनिधर्म को भी गृहस्थधर्म जैसा ही मान लिया गया। भगवान महावीर के निर्वाण के 162 साल पश्चात् बारह वर्ष का दीर्घकालीन अकाल पड़ा, तब शिथिलाचार तथा मतभेद होने से दो पक्ष हो गये।

यदि पक्षपात की बुद्धि छोड़कर मध्यस्थभाव से तत्त्व का विचार किया जाए तो वस्तुस्थिति शीघ्र ही समझ में आ जाती है। अन्य सभी पक्षों को छोड़कर, यथार्थ वीतरागस्वरूप की श्रद्धा की जाए तो मुनिधर्म–दिगम्बरस्वरूप कैसा है ? – वह शीघ्र समझ में आ सकता है। दिगम्बर मुनि महावैराग्यस्वरूप उपशम–समता आदि गुणों से विभूषित रहते हैं।

जैसे, अङ्गारे पर राख हो तो भले ही ऊपर से राख ही दिखायी पड़े, किन्तु अन्दर अग्नि प्रज्वलित है; वैसे ही ज्ञानी का शरीर भले ही रूखा – असुहावना लगे, किन्तु अन्तरङ्ग में महापवित्र शान्ति आनन्द का अनुभवरूवरूप चैतन्यमय निराकुलता का सुख रहता है। ये ज्ञानी मुनि स्वरूप की समाधि में लीन रहते हुए चैतन्यज्योति का अनुभव करते हुए अत्यन्त पवित्र, उज्ज्वल, शान्त एवं वीतरागी

होते है। उनके बारम्बार छठवें–सातवें गुणस्थान का उतार–चढ़ाव चलता रहता है। सम्पूर्ण वीतरागता की साधना ही अपूर्व मुनि–अवस्था है। उस अन्तरङ्ग–बहिरङ्ग निर्ग्रन्थदशा द्वारा ही केवलज्ञान प्राप्ति का प्रयोग चलता रहता है।

कोई कहे कि मोक्ष तो आत्मा का होता है, उसका वस्त्रत्याग से क्या सम्बन्ध ? चाहे जिस वेष में मुनिधर्म हो, इसमें क्या बाधा है ?

ऐसे कुतर्की को यह ज्ञात नहीं है कि छठवें–सातवें गुणस्थान की वीतरागदशा (साधक मुनिमार्ग की स्थिति) उग्र पुरुषार्थमय उपादान की तैयारीस्वरूप और वैराग्यरूप होती है। इस बात की उसे समझ नहीं है; इसलिए वह ऐसी अन्यथा कल्पना करता है।

यदि कोई कहे कि हम शरीर की शोभा, लज्जा, नीरोगता आदि विषय–कषाय के पोषण करने के लिए वस्त्र नहीं रखते, अपितु संयम के परिपालनार्थ ही वस्त्र–पात्र रखते हैं – तो उन्हें भी निर्ग्रन्थमार्ग की खबर नहीं है। इस गाथा में कहा गया है कि मुनि अवस्था में जीवनपर्यन्त स्नान नहीं करते। जब मुनि होने की भावना में इतना बल है, तब साक्षात् मुनिपद में तो चारित्र भी उग्र होता है, वहाँ शरीर के प्रति अणुमात्र भी ममत्व नहीं है, फिर देह की शोभा क्यों ? मुर्दे को सजाना, उसका सम्मान करना क्या आवश्यक है ?

मुनि को इस अचेतन शरीर के प्रति राग नहीं होता; शरीर तो मृत ही है। ऐसे अचेतन स्वभाववाले देहादि के प्रति मुनि उदासीन होते हैं। उन्हें देह के प्रति अंशमात्र भी राग या आसक्ति नहीं होती;

इसलिए शरीर का श्रृङ्गार करूँ, उसे अच्छा रखूँ – ऐसी इच्छा मुनि कैसे करेंगे ? शरीर का स्नान तो मृतक को सजाने जैसा है।

जगत् में देहादि की व्याधि की आरोग्यता होने में आनन्द और सुख की कल्पना करते हैं किन्तु मुनि, अशरीरी अतीन्द्रिय चैतन्य में समाधि द्वारा सहज आनन्द की निराबाधसमता का अनुभव करते हैं। जो वीतरागदशा में रहते हैं, वे केवलज्ञान को आमन्त्रण करते हैं। देह रहे या न रहे, ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता। ऐसी यथार्थ मुनिदशा की भावना कौन नहीं भायेगा ? श्रीमद्जी ने, अपने को जैसी स्थिति प्रगट करना है, वैसी ही भावना की है। इस प्रकार उन्होंने वर्तमान में मुनित्व की तैयारी कर रखी थी; इसलिए एक भव के बाद साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थङ्कर आदि किसी महापुरुष के पास मुनिपद धारण करेंगे और जिनाज्ञा का आराधन करते हुए स्वरूप-स्थिरता द्वारा अपने स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करनेवाले होंगे। वे इस निर्ग्रन्थदशा द्वारा जिनाज्ञा की उपासना करते हुए पूर्णता को प्राप्त होंगे।

कहा भी है –

अवश्य कर्म का भोग जो, भोगवनो अवशेष रे।
इससे देह एक ही धारकर, जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे;
धन्य रे दिवस यह अहो!

सूक्ष्मरूप से अन्तरङ्ग परिणामों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अभी कुछ कर्म भोगने की योग्यता बाकी है, इसलिए उन्हें क्षय करने के लिए एक भव और धारण करना पड़ेगा – ऐसी अन्तरङ्ग में प्रतीति करके ही श्रीमद्जी ने ऐसा कहा है। कोई ऐसी अपूर्वता का सन्देश लाओ तो सही!

अहो! गृहस्थावस्था में भी अन्तरङ्ग में केवलज्ञान की झङ्कार स्वयं की साक्षी से आती है! उसके लिए किसी को पूछने नहीं जाना पड़ता।

लोग पक्षपात छोड़कर मध्यस्थता एवं न्याय से विचारें, तभी ज्ञानी धर्मात्मा के हृदय को पहचान सकते हैं। 'धन्य रे दिवस अहो! जागी रे शान्ति अपूर्व रे।' यह वाणी आत्मा को स्पर्श करके आयी है। इस भावना के बल से सच्चे अभिप्राय का अभ्यास और पुरुषार्थ बढ़ाते हैं।

निर्ग्रन्थ वीतराग मुनिदशा में अदन्तधोवन, अस्नान, नग्न शरीर, वीतरागता आदि का होना सुप्रसिद्ध है। जिन्हें अपने अपरिमित ज्ञानस्वरूप में उत्कृष्ट वीर्य का अपरिमित विश्वास है, उनका जीवन सहज ही प्राकृतिक होता है। उनके दाँत नहीं बिगड़ते हैं, उनमें दुर्गन्ध नहीं आती है। ऐसे महाब्रह्मचारियों का शरीर शान्त, सौम्य और परम वैराग्यरूप होता है। वे किसी भी समय छोटा-सा वस्त्र भी नहीं रखते। 'अदन्तधोवन' की स्थिति बनी रहती है। उनके नव कोटि-विशुद्ध ब्रह्मचर्य, समिति, गुप्ति, पञ्च महाव्रत आदि सहज ही होते हैं।

मुनि को अपने शरीर को सुधारने, सँभालने का-शृङ्गार करने का भाव नहीं होता। उनको वीतरागी आचरणमय संयम, ज्ञानस्वरूप की रमणता या एकाग्रता रहती है। अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परिग्रह से रहित मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में रहते हैं। उनके बाह्य या अभ्यन्तर कृत्रिमता से रहित सहज निर्दोष निर्ग्रन्थदशा रहती है। मुनिपद, अर्थात् निर्ग्रन्थमार्ग द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के उपाय में स्थिरतारूप चारित्र ही ज्ञान की क्रिया है।

इस वीतरागस्वरूप साधक की भूमिका में बाह्य में नग्न शरीर (निर्ग्रन्थ अवस्था) ही सहज निमित्त है – यह तीनों काल का नियम है। श्रीमद् राजचन्द्र उस नियम को जानते थे; इसलिए प्रारम्भ में स्वयं ही कहते हैं –

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब।
सम्बन्धों का बन्धन तीक्षण छेद कर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ॥
अपूर्व.......... ॥

मात्र शरीर ही संयम का हेतु हो – ऐसी अवस्था, महान पुरुष पूर्ण निष्परिग्रही नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनि के ही होती है। मुनि–अवस्था में अन्तरङ्ग में राग–द्वेषादि अज्ञान की ग्रन्थि नहीं होती है। ●●

महावन्दनीय मुनिराज की चारित्रदशा

जिसमें शान्ति-शान्ति-शान्ति - ऐसे अकषायभावरूप शान्तरस की रेलमछेल हो जाती है, उस शान्तरस की दशा का नाम चारित्र है।

अहो! कैसी है यह वीतरागी चारित्रदशा! महावन्दनीय दशा है यह!! यह तो परमेष्ठीपद है भाई! मुनिराज नित्य ऐसी चारित्रदशा में वर्तते हैं। *(- प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 82)*

काव्य - 10

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते ही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य – 10 पर प्रवचन

इस पद में मुनिपद के योग्य समताभाव की स्वाभाविक स्थिति बतायी गयी है। शत्रु या मित्र दोनों की आत्मा, शक्तिरूप से सिद्ध भगवान जैसी है; इसलिए मैं किस पर राग या द्वेष करूँ? कोई बाँस से पीटनेवाला मिले, वसूला से छेदनेवाला मिले या कोई चन्दन लगानेवाला मिले, किन्तु उनमें से किसी में भी किसी प्रकार की इष्ट या अनिष्ट की कल्पना नहीं है – ऐसी स्थिति इस पद में व्यक्त की गयी है।

कोई पूर्व कारण से शत्रु होकर इस शरीर पर उपसर्ग करे तो भी द्वेष नहीं है; इसलिए मुनि के वीतरागभाव है। कोई मित्र होकर शरीर की पूरी सम्भाल रखे, आदेश सुनते ही अनेक सुख-साधन जुटा दे, बहुत विनय करे – ऐसे मित्र के प्रति भी रागभाव नहीं है। इस प्रकार शत्रु-मित्र के प्रति भी समभाव है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दुर्जन को सज्जन माना जाए, किन्तु ज्ञान में यह समझा जावे कि उसकी प्रकृति की मर्यादा ऐसी है। विष को विष जाने, क्रोधी को क्रोधप्रकृतिवाला समझे, सज्जन की सज्जन जाने, किन्तु दोनों समान गुणवाले हैं – ऐसा न माने; जैसा है, वैसा ही जाने, किन्तु किसी से हर्ष, शोक या इष्ट -अनिष्टपना नहीं करे। इस प्रकार दोनों के प्रति समभाव प्राप्त कर, आगे उत्कृष्टता धारण करता है कि **'जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता, भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब।'** यहाँ एक धारारूप समताभाव जीवन में आवे – ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा? – इसकी भावना की गयी है।

'अवसर' शब्द का अर्थ इस प्रकार है – अव+सर; अव = निश्चय; सर = वाण, शुद्धनयरूपी धनुष और शुद्ध उपयोग की तीक्ष्णता के एकाग्रतारूपी बाण द्वारा सभी कर्मकलङ्कों का नाश हो जाए – ऐसा अपूर्व अवसर शीघ्र प्राप्त करने की भावना यहाँ की गयी है।

देह दीर्घ काल तक रहे या अल्प काल तक, दोनों समान हैं। जीवन और मृत्यु – यह पुद्‌गलों के अधीन है; उसे आत्मा नहीं रख सकता। धर्मात्मा इस देह के छूटने के समय पर अपूर्व पुरुषार्थ से समाधिमरणपूर्वक शान्ति प्राप्त करता है। जगत् में जैसे कुत्ता, बकरा, लट आदि पशु मरते हैं और उनका जीवन व्यर्थ जाता है; उसी प्रकार धर्मरहित मनुष्यादि जीवों का जीवन व्यतीत होता है।

कोई कभी अधिक पुण्यवाला भी हो तो परमार्थ में उसकी कोई कीमत नहीं है किन्तु जिसे यथार्थस्वरूप की प्रतीति है, जो मात्र मोक्षाभिलाषी है और स्वरूप के ज्ञान की कीमत जानता है, वही स्वरूप की सावधानी से जागृत सफल जीवन व्यतीत करता है। ज्ञानी धर्मात्मा, अकषायस्वरूप में उल्लासवन्त होता हुआ भी, आयु पूर्ण होते समय अपूर्व समाधिमरण करने का उत्साह लाता है। देह की आयु का अन्त निकट जानकर उसको अपूर्व भावना का उल्लास प्रस्फुटित होता है। बेहद श्रद्धा का पुरुषार्थ उसके स्वरूप की एकाग्रता में वर्तता है।

देह का चाहे जो हो, उसकी सम्भाल कौन रख सकता है? आयु पूरी होने पर जिस क्षेत्र में, काल में, जिस प्रकार देह छूटना हो, उसी प्रकार छूटना होगा; एक समयमात्र की भी देर नहीं होगी।

आयु का सात प्रकार से क्षय कहा जाता है किन्तु वह व्यवहार का कथन है। आयु की स्थिति पूर्ण होने पर सात कारणों में से कोई एक कारण निमित्तरूप में होता है – ऐसा नियम बताया है किन्तु कोई किसी की आयु में हीनाधिकता नहीं कर सकता।

प्रश्न : तो फिर किसी को मारने में पाप नहीं लगेगा, क्योंकि जिलाना या मारना किसी के हाथ की बात नहीं है।

उत्तर : कोई किसी के मारने या जिलाने का कार्य नहीं कर सकता, किन्तु जिलाने या मारने का भला-बुरा भाव तो जीव कर सकता है। जीव या तो ज्ञान करे या अज्ञान करे या पुण्य-पाप के भाव करे। जिलाने का राग, पुण्यभाव है; मारने का भाव, पापभाव है और मैं पर का कूछ कर सकता हूँ – ऐसा विपरीतभाव, अज्ञान है।

ज्ञानी, देह के वियोग को प्रत्यक्ष सामने ही देखता है; इसलिए उसे देह का चाहे जो हो जावे, किन्तु उसके रखने या नहीं रखने की उसे इच्छा नहीं रहती, क्योंकि देह उसकी आयु की स्थिति अनुसार ही रहेगी; इसलिए ज्ञानी को उसकी चिन्ता नहीं है।

यह आत्मज्ञानयुक्त पूर्णता के लक्ष्य से स्वरूपस्थिरता की भावना है। शत्रु या मित्र, निन्दक या वन्दक को समान समझने व जीवन-मृत्यु तथा संसार-मुक्ति को समान समझने के सम्बन्ध में **'शान्तिजिन-स्तवन'** में कवि ने कहा है –

मान-अपमान चित्त सम गिने सम गिने कनक-पाषाण रे।
वन्दक-निन्दक सम गिने, ईस्यो होय तूं जाण रे॥
सर्व जगजंतु ने सम गणे, गणे तृण-मणि भाव रे।
मुक्ति-संसार बेउ सम गणे, मुणे भवजलनिधि नाव रे॥
शान्ति जिन एक मुज विनती॥

शान्ति, अर्थात् समतास्वभाव। हे परमात्मा! आपने सिद्धस्वभाव प्रगट किया है। मैं भी आपके जैसा ही होने योग्य हूँ – यह लक्ष्य में रखकर यहाँ श्रीमद् कहते हैं कि संसार और मुक्ति में भी समान दृष्टि रहे। यहाँ बेहद समतामय अखण्ड द्रव्यस्वभाव और वीतरागता बतायी है। द्रव्य तो अनादि–अनन्त है, इसलिए 'बन्ध' और 'मोक्ष' – ऐसी दो अवस्थारूप भेद की कल्पना में ज्ञानी अटकता नहीं है।

ज्ञानी को भव–संसार के प्रति खेद नहीं है। एक–दो भव बाकी हों या भव का अभाव किया हो, उसमें संसारी और मुक्त अवस्था का शोक या हर्ष करने का अवकाश नहीं – ऐसी अप्रमत्त–भूमिका से लेकर आगे क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो – ऐसा अकेला वीतरागभाव (स्वसमय) कब आवेगा? – यह भावना यहाँ व्यक्त की है।

'सिद्धसमान सदा पद मेरो' – ज्ञानी, स्वभाव में तो पूर्ण पवित्र शाश्वत चिद्घन हैं किन्तु उनके वर्तमान–अवस्था में कमजोरी के कारण अस्थिरता रहती है।

छठवें गुणस्थान में व्यक्त–अव्यक्त शुभविकल्प होते हैं, उसमें मोक्ष की इच्छा का विकल्प रहता है, उस विकल्प को भी नष्ट करूँ – ऐसी उत्कृष्ट दृढ़तर स्थिरता – एकाग्रता करूँ कि केवलज्ञान की उत्कृष्ट पर्याय प्रगट हो जावे – ऐसा कहा गया है। उसे पाने की योग्यता या उत्कृष्टदशावाला समभाव हो, वहाँ मोक्षदशा प्रगट होती ही है।

बन्ध और मोक्ष – ये दो तो आत्मा की अवस्थाएँ हैं और आत्मा अविनाशी नित्य है। संसारपर्याय, बन्धनरूप है। शुभ या

अशुभपरिणाम, भावबन्धरूप अवस्था है, उसके अभाव की अपेक्षा मोक्ष कहा जाता है। संसार और मुक्ति पर्यायदृष्टि से पर-निमित्त की अपेक्षा दो भङ्ग हैं। आत्मा उन दो भङ्ग - जितना नहीं है क्योंकि आत्मा निमित्त की अपेक्षारहित नित्य एकरूप है। आत्मभानपूर्वक चारित्रदोष टालने के लिए उग्र पुरुषार्थ की भावना से उग्र निर्जराभाव का वर्णन इस पद में किया गया है। ●●

मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ

मुनिराज की देह छूट जाए तो वहाँ रोनेवाला कोई नहीं है। रोनेवाला होगा कौन? कोई नहीं। मुनिराज तो गुफा के मध्य अन्तर आनन्द में स्थित होते हैं। अहा! देखो, ऐसा मुनिपना!! वह एक वस्तु स्थिति है - ऐसी दशा प्रगट करनी पड़ेगी। प्रभु! इसके बिना मुक्ति नहीं होगी। भाई! अकेले सम्यग्दर्शन और ज्ञान से कहीं मुक्ति नहीं हो जाती। श्रावक को तीन मनोरथ होते हैं - 1. कब परिग्रह का परित्याग करूँ, 2. कब मुनिपना अङ्गीकार करूँ और 3. कब संसार से छूटूँ? मुनिराज, परीषह और उपसर्ग आने पर प्रचुर पुरुषार्थपूर्वक निज ज्ञायक का अवलम्बन लेते हैं। श्रावक को अन्दर से ऐसी पवित्र मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ वर्तता है।

(आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486)

काव्य - 11

एकाकी विचरतो वली श्मशान मां,
बली पर्वत मां बाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मन में नहिं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥
अपूर्व.........॥

काव्य - 11 पर प्रवचन

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी श्रीमद् राजचन्द्र कितनी उत्कृष्ट भावना भाते थे! उनके अन्तरङ्ग में पवित्र उदासीनता, निवृत्तिभाव, मोक्षस्वरूप को प्राप्त करने का उत्साह जागृत था। वह निर्ग्रन्थ-दशा-साधकदशा धन्य है, जो माहात्म्य करने योग्य हैं।

जङ्गल में एकाकी, अर्थात् स्वरूपस्थिति के भान में असङ्गरूप से विचरते हुए, बाह्यक्षेत्र से श्मशान, जङ्गल, पहाड़, गुफा आदि स्थानों में जहाँ सिंह भी एकाकी विचरता हो - ऐसे क्षेत्र में एकाकीरूप से विचर सकें - ऐसी महापवित्रदशा धन्य है। वे मुनिवर भी धन्य हैं - जो ऐसे शान्त, एकान्तक्षेत्र में एकत्वदशा की साधना करते हैं। किसी पर्वत की गुफा में या शिखर पर रहकर बेहद आनन्दघन स्वभाव की मस्ती में लीन होकर, जागृत ज्ञानदशा की एकाग्रता द्वारा केवलज्ञान निधान को प्रगट करूँ; एकान्त निर्जन वन में नग्न निर्ग्रन्थ मुनि बनकर, सहजस्वरूप में मग्न होकर पूर्णपद प्रगट करूँ - ऐसी पूर्ण पवित्रदशा कब आयेगी? यही भावना प्रस्तुत पद में की गयी है।

जहाँ सिंह-वाघ गर्जन करते हैं, जहाँ साधारण जीव काँप उठें - ऐसे वनक्षेत्र में शान्त, एकाकी, निःसङ्ग परिणामवाले, महावैराग्यवान, उपशम-समता की मूर्ति चैतन्य ज्योतिस्वरूप बनकर आनन्दमय, सहजसमाधि में लीन हो जाऊँ - ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा?

जिनके अन्तरङ्ग में अशरीरी चैतन्यभाव बर्तता है और वर्तमान चारित्र में कुछ कमजोरी होने से जङ्गल की एकान्त स्थिति का

विकल्प आता है और उत्कृष्ट साधकदशा की भावना को पूर्ण करने के लिए सिंहों से परिपूर्ण घने जङ्गल, पर्वत की गुफा या एकान्त स्थान में जाकर निश्चल आसन लगाऊँ और बाह्य व अन्तरङ्ग में अक्षोभता रखूँ – ऐसा चिन्तवन होता है, उनके क्षोभरहित परिणाम सहज ही होते हैं। शरीर स्थिर रहे या न रहे – यह अलग बात है क्योंकि वह आत्मा के आधीन नहीं है किन्तु अन्तरङ्ग में वीतरागमय निश्चल स्थिरभाव की एकाग्रता बढ़ती जाती है। ऐसी स्वरूपजागृति की स्थिति में सिंह आकर क्या करेगा ? यह शरीर तो मुझे नहीं चाहिए, इसलिए उसे लेने के लिए आनेवाला, अर्थात् उसकी निवृत्ति करानेवाला मेरा उपकारी मित्र है – ऐसी भावना का उत्साह ऐसे साधक को ही होता है।

कोई तो बाह्यसाधन का पक्ष करता है किन्तु यहाँ तो पूर्ण स्वरूप के उत्साह की भावना है। जो आत्मा से हो सके – ऐसी ज्ञानक्रिया, अर्थात् स्वरूप में रमणता का विचार है। इस प्रकार के अडिग, निश्चल असीमस्वरूप का विश्वास और स्वीकारता तो करो ! कभी सिंह आकर शरीर के टुकड़े भी कर दे तो भी क्षोभ नहीं होता। यह भावना विवेकसहित है; मूढ़तायुक्त नहीं है। लोग, हठयोगजनित मन की बाह्य स्थिरता से मूढ़ जैसे बनते हैं, यहाँ उनकी बात नहीं है। यहाँ तो उत्कृष्ट साधकदशा की भावना है। कहा भी है –

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो रे और न चाहुँ रे कंथ।
रीझ्यो साहेब सङ्ग न परिहरे रे माँगे सादि-अनन्त॥

इस प्रकार अखण्ड वीतरागदशा की भावना की गयी है। इसलिए आगे बढ़कर अपनी शुद्ध चेतना सखी को कहते हैं –

चलो सखी वहाँ जाइए जहाँ अपना नहीं कोई।
माटी खाय जानवरा, मुवाँ न रोये कोई॥

'देह का चाहे जो हो, किन्तु अखण्डसमाधि का मङ्गल -उत्सव हो' - ऐसी असङ्गस्वरूप की सावधानी, निःशङ्कता, निर्भयता कब आयेगी? - उसकी भावना यहाँ की गयी है।

जैसे, राजमहल में राजा निर्भय होकर सोता है; वैसे ही मुनिराज बाह्यभ्यन्तर निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा में पर्वत, वन आदि क्षेत्र में, जहाँ सिंह-बाघ रहते हैं, वहाँ भी वे स्वसन्मुखता द्वारा बाह्य-अभ्यन्तर असङ्ग एकत्वदशा साधते हैं और ध्यान में निश्चल रहकर स्वरूप -मस्ती में सहज आनन्द की रमणता में रहते हैं।

जैसे, स्वच्छ जल से भरा हुआ सरोवर हो, और जब हवा न चलती हो, तब स्थिर दिखता है; उस समय वह पूर्णचन्द्र के बिम्ब से विशेष उज्ज्वल दिखता है; वैसे ही मुनिराज शान्त, धीर, गम्भीर, उज्ज्वल समाधि में मस्त रहकर, जैसे मानों अभी केवलज्ञान प्राप्त करेंगे - ऐसे बेहद पूर्णस्वभाव में दृष्टि लगाकर एकाग्र होते हैं। ऐसी अवस्था में कभी बाघ अथवा सिंह भूख से गर्जना करता हुआ आये, तब भी वे जानते हैं कि 'परम मित्र का योग मिला है क्योंकि मुझे तो शरीर की आवश्यकता नहीं है' और जो शरीर को अपना नहीं मानता है, उसके लिए शरीर को ले जानेवाला सिंह, मित्रसमान है। अहो! देह से मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ या नुकसान नहीं है।

समयसार में कहा है - 'यह शरीर छेदा जाए, भेदा जाए या कोई इसे ले जाए या इसे नष्ट कर दे या इसका चाहे जो कुछ हो, किन्तु यह मेरा नहीं है।'

जिसे शरीर के प्रति अणुमात्र भी ममत्व नहीं है – ऐसे अशरीरीभाव में रहनेवाले धर्मात्मा का भाव कितना उत्कृष्ट होता है, यह देखने की चीज है! अहो! विचार करो कि ऐसा विचार करते समय श्रीमद् जवाहरात के व्यापार में थे या आत्मा में?

जिस समय में श्रीमद् ने इस काव्य की रचना की थी, उस समय उनका मुम्बई में जवाहरात का व्यापार था किन्तु फिर भी सब परिग्रह से निवृत्त होने की और उत्कृष्ट साधकदशा की भावना भाते थे। इस काव्य का एक-एक शब्द गम्भीर भावार्थयुक्त है। वे महावैराग्यवान थे और पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष / स्वभावदशा प्रगट करूँ – ऐसी भावनासहित स्वरूपस्थिरता की आंशिक सावधानी रखकर मुनित्व की भावना भाते हैं; इसीलिए श्रीमद् कहते हैं कि इस शरीर की स्थिति पूरी होने ही वाली है, उसमें निमित्त होनेवाले बाघ-सिंह का संयोग तो मित्रसमान है। संसारप्रवृत्ति से अमुक समय तक निवृत्ति लेकर सत्समागम, सत्शास्त्र के अध्ययन, श्रवण, मनन की रुचि न करे तो उसको इस जाति की भावना का अंश भी कहाँ से आवे?

श्रीमद् राजचन्द्र गृहस्थवेष में होते हुए भी, वीतरागी मुनित्व की दशा मुझे प्राप्त हो – ऐसी भावना भाते थे। मैं जङ्गल में बैठा होऊँ और हिरण मेरे शरीर को लकड़ी की ठूँठ समझकर उससे अपने शरीर की खाज खुजाते होवें, फिर भी क्षोभ न हो – ऐसी स्थिरता की भावना करते थे। बाह्य से योग हो या न हो – यह उदयाधीन है किन्तु इस अशरीरीभाव की स्वीकारता तो उत्पन्न

करो। पुरुषार्थ करना उदयाधीन नहीं है बल्कि अपने आधीन है। धर्मात्मा को ऐसी उत्कृष्टभावना का उत्साह आता ही है।

संसारी जीवों को बाह्य संयोग, उपाधिरूप वैभव का उत्साह होता है कि मेरे बँगला हो; मेरे टेबिल, कुर्सी, गद्दी, तकिया, पंखा इत्यादि हों। उनमें मोहाभिभूत होकर हर्ष अनुभव हो – ऐसी विपरीत भावना वे करते रहते हैं क्योंकि उनके संसार का ही अपार प्रेम / तृष्णाभाव रहता है। जो परवस्तु में सुखवृद्धि करने और रागी–द्वेषी बनने में ही सन्तोष मानता हो, उसके रागरहित पवित्र आत्मा की रुचि, श्रद्धा कैसे होगी ?

एक बार एक भाई **श्रीमद्** के पास गये और उनके सम्मुख गद्दी पर बैठकर बीड़ी पीते–पीते पूछा – 'आप ज्ञानी हैं, इसलिए बताइये कि मोक्ष कैसे मिले।'

श्रीमद् ने उत्तर दिया – 'ऐसे को ऐसा।'

इस उत्तर से दो अभिप्राय प्रगट होते हैं – (१) आप जैसे हैं, वैसे हो जाओ, अर्थात् स्थिर हो जाओ, (२) दूसरा अभिप्राय यह है कि तत्त्व की रुचि के बिना ज्ञानी के प्रति प्रेम, विनय या बहुमान नहीं होता। शरीर के प्रति आसक्ति रखनेवाले, पर से सुख माननेवाले और विषय–कषाययुक्त संसार की रुचिवाले जीवों को मोक्ष की रुचि कैसे हो ? राग, द्वेष तथा देहादि से सर्वथा छूटना मोक्ष है। त्याग–वैराग्य की भावना के बिना तथा देहादि के प्रति ममता या आसक्ति की कमी किए बिना कोई शुद्ध आत्मा को देखना चाहे तो कैसे देखे ? जिसे आत्मभान तो न हो और शरीर के क्षेम–कुशल रखने की ममता हो, उसको रागरहित

अतीन्द्रिय आत्मा की श्रद्धा कैसे हो? इसलिए देह की ममता पहले घटानी चाहिए।

श्रीमद् ने इस गाथा में शरीर को छोड़ने की – अशरीरी होने की भावना का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि सिंह का संयोग होने पर ऐसा मानना चाहिए जैसे कि – **परम मित्र का मानो पाया योग जब**, अर्थात् मानो परम मित्र का संयोग मिला हो। मुझे तो शरीर रखने की इच्छा नहीं और सिंह को शरीर रखने की इच्छा है। 'मुझे शरीर के प्रति ममत्व नहीं है, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है' – ऐसा समझकर मेरे शरीर का नाश करनेवाले, हे सिंह! तू तो मेरा उपकारी है।

श्रीमद्, अशरीरीभाव की भावना संसारीवेष में रहते हुए भी करते थे। केवलदर्शन, केवलज्ञान प्रगट करने का प्रयोग विचारते थे। उनकी भावना थी कि ऐसा प्रसङ्ग मिले जिससे कि गजकुमार की तरह मुझे भी शीघ्र ही मोक्षस्वभाव प्रगट हो जाए। स्वभाव की रुचि का रसिक पूर्ण वीतरागस्वरूप की भावना करता है। संसार की रुचिवाला मोही जीव विपरीत मनोरथ करता है कि मुझे बहुत धन, घर, स्त्री, खेत, गाड़ी आदि मिले। मेरे धन, वैभव, परिवार बहुत बढ़ें और मैं लहलहाते, भरे-पूरे खेत आदि को छोड़कर मरूँ। इसके विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा यह भावना करता है कि मैं अतिशय शुद्धस्वभाव में स्थिर रहते हुए उग्र पुरुषार्थ करता हुआ दो घड़ी में केवलज्ञान प्रगट करूँ।

मुनि जङ्गल में आत्मस्वरूप के ध्यान में लीन हों और उस समय सिंह उनका गला पकड़े, तो उस समय केवलज्ञान पर दृष्टि

रखते हुए, चैतन्य का अतीन्द्रिय असीम पुरुषार्थ प्रगट होता है। सिंह के मुख में चैतन्य कैसे पकड़ा जाए? चैतन्य तो जो कुछ होता है, उसे जानता है। इसलिए श्रीमद् ने कहा कि – सिंह ने गला पकड़ा, तब ज्ञानी ने अडोलस्थिरता (स्वरूपस्थिरता) पकड़ी है। श्रीमद् ने संसारीवेष में ऐसी भावना भायी कि कब मैं क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करूँ। इस प्रकार का अपूर्व भाव कोई लाये तो सही! ●●

प्रतिकूल प्रसङ्गों में स्वभाव का उग्र अवलम्बन

जिस प्रकार माता की साड़ी का पल्लू पकड़कर चलता हुआ छोटा बालक, चिल्लाता हुआ कुत्ता नजदीक आवे अथवा अन्य कोई कठिनाई आवे तो पकड़े हुए पल्लू को विशेष जोर से पकड़ लेता है; उसी प्रकार मुनिराज, परीषह अथवा उपसर्ग/प्रतिकूल संयोग के समय स्वसन्मुखता के प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निज शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करके प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं। भगवान ज्ञायक का आश्रय विशेष उग्रता से लेते हैं। अहा! वह दशा!! उस दशा को प्रगट करने से ही छूटकारा है। उस दशा के बिना मुक्ति नहीं है।

(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/117)

काव्य - 12

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्‌गल एक स्वभाव जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

घोर तपश्चर्या में, तन सन्ताप नहिं,
सरस अशन में भी हो नहीं प्रसन्न मन।
रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की।
सबमें भासे पुद्‌गल एक स्वभाव जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य – 12 पर प्रवचन

अब, अतीन्द्रिय आनन्द में लीनता का रसास्वाद–अनुभव बढ़ने पर शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध होता है। कहा भी है '**इच्छानिरोधः तपः**' इस प्रकार श्रीमद् तपश्चर्या में भी उत्कृष्टता दर्शाते हैं।

स्वरूपरमणता में प्रवर्तमान साधकजीव को उग्र पुरुषार्थ के बढ़ने पर निर्ग्रन्थ मुनिअवस्था में कभी–कभी ऐसा अवसर आता है कि दो–दो महीनों तक अनाहारक स्थिति हो जाती है। कभी –कभी छह महीना तक भी आहार छूट जाता है किन्तु मन में किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता। शरीर के कृश होने की ग्लानि नहीं, खेद भी नहीं, अपितु निश्चलसमता की वृद्धि होती है। सहज आनन्दसागरदशा में झूलते हुए खेद का अंश भी कैसे हो? – ऐसी साधकदशा को धन्य है।

संसारी जीव, मोक्ष चाहते हैं किन्तु एक दिन भूखे रहने का अवसर आ जाए तो कँपकँपी होती है और खाने–पीने की लोलुपता के वश होकर आगे–पीछे की तैयारी करने में अनेक प्रकार के नाटक करते हैं परन्तु मुनि, आत्मा के भानसहित स्वरूप की लीनता में स्थिर रहते हैं; कभी–कभी छह–छह माह तक आहार न मिलने पर भी समय कैसे व्यतीत हुआ – इसका स्मरण करने की वृत्ति तक उनके नहीं रहती।

स्वरूप में निश्चल रहने में एक क्षणमात्र का भी विराम न होने दूँ – ऐसी जिनकी भावना थी, ऐसे महर्षियों में श्रेष्ठ तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव थे। वैशाख शुक्ला तृतीया को वे संसार छोड़कर

निष्परिग्रही बनकर जङ्गल में चले गये थे। दीक्षा के समय में उनके वह चौथा मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ। वे उसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं। अकषायी स्थिरता का अभ्यास बढ़ाते हुए उनके विकल्प हुआ कि छह महीने तक आहार नहीं लूँगा। छह माह पूरे होने पर उन्हें आहार लेने की वृत्ति हुई, किन्तु आहार का योग नहीं बना। छह माह तक आहार का अन्तराय रहा; अतः पुनः छह माह आहार नहीं मिला, किन्तु इसका उन्हें खेद नहीं था। इस प्रकार वे आहार बिना बारह महीने तक रहे। ऐसे धीर, वीर, शूरवीर मुनिधर्म के पालन में सावधान रहते हैं।

ज्ञानदशा तीनों काल में ऐसी ही होती है। कोई शिथिलता की बात करें तो वह मोक्षमार्गस्थ नहीं है क्योंकि आत्मा में असीम अनन्त शक्ति है, वह कभी घटती नहीं है। — 360 दिनों तक चारों प्रकार के आहार बिना उपवास की स्थिति की घोर तपश्चर्या में किसी मुनि का शरीर कमजोर भी दिखे; शरीर अस्थिपञ्जरमात्र रहते हुए भी अन्तर में चैतन्य भगवान असीम समता से तृप्त हैं। मेरे, जड़ की खुराक नहीं है, शरीर की स्थिति जैसी रहना है, वैसी ही रहेगी – ऐसा वह जानता है।

मुनि के असाता का उदय हो तो भूख लगती है और साता का उदय हो तो आहार मिलता है। साता का उदय न हो तो नहीं मिलता, किन्तु मन में दुःख नहीं है। जिसे शरीर की अधिक आसक्ति है, वह ऐसा सुनते ही काँपता है किन्तु जिसे इस मुनिदशा की तैयारी हो, उसके असीम सामर्थ्य तैयार रहती है; पीछे वैसा योग बने या न बने, यह अलग बात है किन्तु भावना हल्की कैसे

हो ? आत्मा अन्तरङ्ग में असीम सामर्थ्य से प्रत्येक समय परिपूर्ण है; इसलिए उसकी भावना भी उत्कृष्ट ही होनी चाहिए।

संसारी जीव, ममता के वश होकर पूर्णता की इच्छा करते हैं और इसीलिए विवाह के गीतों में गाते हैं कि – 'मैं तो थाल भर्यो सग (परिपूर्ण) मोतोए... ।' चाहे थाल का ठिकाना नहीं हो, चाहे उसमें एक भी मोती नहीं हो, किन्तु मनोरथ तो मोतियों से परिपूर्ण थाल का ही है। इस प्रकार ममता की शिखाएँ भी पूर्णता चाहती हैं; अधूरापन नहीं। जीव विपरीतता की उत्कृष्टता चाहता है; इसलिए वह अनन्त तृष्णा द्वारा अपने को पूर्ण करना चाहता है।

यहाँ मोक्ष का इच्छुक, संसारभाव से पलट कर सबल बना और ऐसा होकर पूर्ण समता की यह भावना करता है कि '**सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु**' मेरा पूर्ण शुद्धस्वभाव शीघ्र प्रगट हो। जहाँ अखण्डरूप से यह भावना होगी, वहाँ वह संसार के भाव को नहीं रहने देगी। जहाँ अनाहारक चैतन्य की रमणता में बेहद पुरुषार्थ का उद्यम हो, वहाँ ऐसी अपूर्वदशा का अंश प्रगट कर धर्मात्मा उसी भावना में रहता है। उत्कृष्ट साधकदशा का उत्कृष्ट पुरुषार्थ पूर्ण होने पर सादि-अनन्त कालपर्यन्त शाश्वत निराकुल अनन्त सुख रहता है।

अज्ञानी जीव, मुनिअवस्था में घोर परीषह की बात सुनकर व्याकुल होता है, जबकि धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि वैसे घोर तप और परीषह के सन्मुख कहता है कि मेरे में अनन्त शक्ति है। एक समय की अवस्था में भी अनन्त समता भरी हुई है। अनन्त काल तक ज्ञातारूप में स्थिर रहने का अनन्त सामर्थ्य चैतन्य में है।

स्वभाव की क्या मर्यादा ? जिसका अनन्त स्वभाव है, उसमें मर्यादा नहीं होती।

चैतन्य अनादि-अनन्त, असीम सामर्थ्य से पूर्ण, ज्ञानघन है। 'मैं शरीर नहीं हूँ, उस शरीर के कारण मुझे किसी प्रकार का लाभ -नुकसान नहीं है। घोर तपस्या से शरीर जीर्ण हो जाए, जैसे सूखे कोयले अथवा लकड़ी गाड़ी में भरे हों और वे खड़खड़ाएँ, वैसे ही छह-छह महीने उपवास सहज ही हो जाने पर शरीर की हड्डियाँ बजने लगे - ऐसी मुनिपने की भावना श्रीमद् संसार में रहते हुए करते थे। यह भावना भाते हुए वे भोजन करते थे या तपस्या करते थे ? वास्तव में यह भावना सच्चीदृष्टिपूर्वक श्रावकअवस्था में की जानी चाहिए और उत्कृष्टरूप में करनी चाहिए। 'अपूर्व-अवसर' पुरुषार्थ में आता है और बेहद चैतन्यशक्ति का अनुभव बढ़ने पर जीव अपनी शक्ति को छिपाता नहीं।

सरस अशन में भी हो नहीं प्रसन्न मन - मुझ में ही अनन्त तृप्ति है तो फिर किससे तृप्त होऊँ ? मुनि की किसी समय आहार की वृत्ति आयी और चक्रवर्ती राजा के यहाँ से उनको आहारदान प्राप्त हुआ, जिसमें पुष्ट और सुन्दर आहार मिला, किन्तु उससे उनमें प्रसन्नता का विकल्प नहीं है। ऐसी उत्कृष्ट समभावीदशा मुनि के सहज ही होती है। चक्रवर्ती राजा के खीर का अति उत्तम भोजन होता है। कभी उस आहार को लेने का योग बने तो उसमें ज्ञानमस्त मुनि को प्रसन्नता का भाव नहीं होता। शरीर को आहार की प्राप्ति उदयाधीन, अर्थात् प्रारब्ध-अनुसार होती है। साता का उदय हो और शरीर रहना हो तो आहार मिलेगा ही, उसमें हर्ष कौन

करे ? अन्तरङ्ग में परम सन्तोषामृत का स्वाद होने से मुनि को आहार के प्रति राग नहीं है। जिसे विषय, कषाय और आहार की लोलुपता है, उसे हाफुस आम देखकर, मुँह से लार टपकती है, उसका स्वाद लेने के लिए व्याकुल होता है और वह खाते समय हर्ष मनाता है।

जब निर्ग्रन्थमुनि को छह-छह माह के उपवास के पारणे में संयम के हेतु निर्दोष आहार की इच्छा हो, तब आहार सरस मिले या नीरस, किन्तु वे उसमें प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होते। जिसे देहादि में सुखबुद्धि है – ऐसे संसारी जीव को आहारादि में गृद्धता होने से सरस भोजन की इच्छा होती है। मुनि तो ऐसी भावना करते हैं कि मेरे अनाहारकस्वभाव में ज्ञान की स्थिरता के अलावा कुछ भी उपाधिभाव नहीं होना चाहिए। मेरे स्वरूप की रमणता में, शान्ति में इस क्षुधा की पीड़ा का विकल्प कैसा ? सब छूट जाओ; मैं असङ्ग हूँ; इसलिए समाधिस्थ, स्वरूपस्थिरता-रमणता का अपूर्व अवसर कब आवेगा ? ऐसी भावना यहाँ की है।

रजकरण मा ऋद्धि वैमानिक देवकी,
सब में भासे पुद्गल एक स्वभाव जब।

अति-मलिन एक रजकण से लेकर पुण्य में उत्कृष्ट वैमानिकदेव की ऋद्धि तक सब पुद्गल की विकारीपर्यायें हैं। वे मेरे चैतन्य का लाभ करनेवाली नहीं हैं। वैमानिकदेव के पुण्य की ऋद्धि, सूर्य-चन्द्र आदि देवों की पुण्य की ऋद्धि से बहुत अधिक होती है, उसका वर्णन शास्त्र में है। वहाँ अति उज्ज्वल अत्यधिक पुण्य के समूह का योग है। उनसे भी अधिक पुण्य के कर्मरजकणों

का योग हो तो भी मुनि को उनकी महिमा नहीं है क्योंकि वे तो ज्ञाता रहकर जानते हैं कि पुद्गल की अनेक विचित्रताओं में चैतन्य का अंशमात्र भी गुण नहीं है। उनमें राग के कारण वह अटकते हों तो उनके उपाधि का बन्धन हो। अपना जो अनन्त सुखस्वरूप आत्मा लक्ष्य में है, उसे पूर्ण करने का पुरुषार्थ और स्वरूप प्रगट करने का उत्साह रहता है; किसी निमित्त में अटकने का भाव उनके नहीं है।

इस बारहवीं गाथा पर्यन्त चारित्रमोह को क्षय करने की भावना है। अब, शेष नौ गाथाओं में सूक्ष्म चर्चा है।

एक-एक शब्द का विस्तार करने में दिवस बीत जाएँ, इसलिए संक्षेप में कथन करना पड़ता है; उसमें जो आशय हो, उसे विचारना चाहिए। अहा! सर्वथा कषायक्षय की चर्चा आनेवाली है। इस काल में, इस क्षेत्र में मोक्षप्राप्ति नहीं है किन्तु फिर भी बारहवीं गाथा में वर्णित सातवें गुणस्थान का चारित्र प्रगट करे तो उसे मोक्षप्राप्ति का समय भी आ सकता है।

आगे की नौ गाथाओं में वर्णित क्षपकश्रेणी, शुक्लध्यान का पुरुषार्थ इस काल में नहीं है तो भी भावना तो भायी जा सकती है। प्रथम, आत्मा की सच्ची पहचान और श्रद्धा को दृढ़तर करने का पुरुषार्थ और अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम बिना अपूर्व अवसर की प्राप्ति नहीं होती। जैसे, सेना में नौकरी करनी हो तो उसे सर्व प्रथम निशोनबाजी सीखने का अभ्यास करना पड़ता है और वह अभ्यास मौके पर काम आता है; वैसे ही धर्मात्मा मुमुक्षु को प्रारम्भ से ही तत्त्वज्ञान के अभ्यासपूर्वक अपूर्व अवसर की भावना में लीन होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने के बाद मुमुक्षु को चारित्र की भावना दृढ़तापूर्वक बढ़ती जाती है और अनाहारक, अशरीरी कैसे होऊँ – यह विचार आता है। बहुत से लोग मानते हैं कि आहार के बिना शान्ति नहीं होती, किन्तु कई बार देखा जाता है कि आहार के बिना अशान्ति भी नहीं होती। जैसे कि व्यापार में एक घण्टे में सौ रुपये का लाभ दिखता हो तो संसारी जीव, लोभ के वश एक समय का भोजन तक करना भूल जाता है और कहता है कि आज भूख नहीं लगी। इसी प्रकार संसारभावरहित अपूर्व आनन्द का अवसर पाकर अकषाय, अलोभदृष्टि के लक्ष्य में आहार सहज ही छूट जाता है। जिस प्रकार संसारी जीव, अवगुण के लक्ष्य में आहार लेना भूल जाते हैं; उसी प्रकार साधक जीवों को अनाहारक शुद्धस्वभाव के लक्ष्य में अकषाय से परिपुष्ट पुरुषार्थ की जागृति से छह-छह महीना तक आहार सहज छूट जाता है। अरे! आहार की इच्छा भी नहीं होती। ऐसी दशा में आत्मशान्ति या परम सन्तोष होता है, उससे बाह्यवृत्ति या आकुलता नहीं होती।

ऋषभदेव भगवान को बारह माह के पारणे में ईख का रस मिला था किन्तु अन्तरङ्ग में अखण्डसमता की मुख्यता होने से हर्ष नहीं था। भक्त, हर्षसहित भावना करते हैं कि वह धन्य घड़ी कब होगी, जब वे सुपात्र को आहारदान दें! उनके निमित्त से मुनिश्वर को संयम-साधना का पोषण मिले। उसमें भाव यह है कि वीतरागभाव सदा बना रहे, जिससे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि संयम की पुष्टि हो। इस प्रकार भक्तिभाव से भक्त हर्ष मनाते हैं और भावना भाते हैं कि मुझे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? ●●

काव्य - 13

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

ऐसे प्राप्त करूँ जय चारित्रमोह पर,
पाऊँगा तब करण अपूरव भाव जब।
क्षायिकश्रेणी पर होऊँ आरूढ़ जब,
अनन्य चिन्तन अतिशय शुद्धस्वभाव जब॥
अपूर्व.......... ॥

काव्य – 13 पर प्रवचन

इस प्रकार जो चारित्रमोह या अस्थिरता का क्षय करने का पुरुषार्थ अचलस्वरूप की स्थिरता द्वारा प्रगट करता है, उसके बुद्धिपूर्वक विकल्प नष्ट होकर स्थिरता विकसित होती है, उस स्थिति को अप्रमत्तदशा कहते हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों की चौकड़ी का अभाव रहता है किन्तु चारित्रगुण में कुछ मलिनता रहती है। अप्रमत्तगुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प या राग का अंश नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म कषाय-अंश रहता है, जो केवलीगम्य है।

यहाँ से ऊपर, अर्थात् आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी माँडता / आरोहण करता है; वहाँ उपशम की बात नहीं है किन्तु चारित्रमोह को क्षय करनेरूप क्षपकश्रेणी का उग्र पुरुषार्थ है। यह क्षपकश्रेणी, अर्थात् शुक्लध्यान का प्रथम चरण है। इस गुणश्रेणी में प्रति समय अनन्त गुणी परिणामविशुद्धि अधिक-अधिक बढ़ती जाती है। जैसे, स्वर्ण को शुद्ध करते समय भट्टी में पन्द्रहवें ताव के बाद सोलहवें ताव के अन्त में वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है, वैसे ही बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा चरण शुरु होने के बाद तेरहवें गुणस्थान में चार घातियाकर्मों का नाश होकर सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। सर्वज्ञप्रभु के उस केवलज्ञान में एक समय में सर्व विश्व (सर्व जीव-अजीव वस्तु सामान्य-विशेषरूप) प्रतिभासित होता है। इस केवलज्ञान का स्वरूप युक्ति, आगम और स्वानुभव से सिद्ध है।

यहाँ चारित्रमोह के क्षय और शुक्लध्यान की क्षपकश्रेणी के

उग्र पुरुषार्थ की चर्चा है। बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा रहती है। चारित्रमोह का उदय दशवें गुणस्थान तक रहता है; ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्रमोह का उदय नहीं होता; बारहवें गुणस्थान में चारित्रमोह का सर्वथा क्षय होता है। यह जीव आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी प्रारम्भ कर बीच में नहीं रुकता हुआ और आगे बढ़ता हुआ दो घड़ी में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य – जो शक्तिरूप में अवस्थित थे, उनको प्रगट करता है। जिसे उस उत्कृष्ट अपरिमित सुख की रुचि हुई है, उस साधक को कहीं रुकने की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार का निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग ही तीनों काल में सनातन मोक्षमार्ग है। महाविदेहक्षेत्र में त्रिकाल यही एक ही धर्म प्रवर्तता है।

'करण' का अर्थ 'परिणाम' है, चारित्र का 'अपूर्वकरण' का अर्थ है – पूर्व स्थिरता लाने तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट करने का प्रयोग, अर्थात् स्वरूपस्थिरता की श्रेणी में आरूढ़ होना। सम्यग्दर्शन होने पर जो अपूर्वकरण परिणाम होते हैं, उनकी बात यहाँ नहीं है। इस अपूर्वकरण में समय-समय में अनन्त गुणी शुद्धि की वृद्धि द्वारा जीव पूर्ण अकषायस्वरूप बनानेवाले पुरुषार्थ को करने के लिए शुक्लध्यानश्रेणी में प्रवेश करता है। इस अपूर्वकरण में, पहले नहीं हुए ऐसे विशुद्ध, अर्थात् शुद्धपरिणामों की एकाग्रता (स्वरूपलीनता) रहती है। इस स्वरूपस्थिरता में एकाकार, तन्मय, अखण्ड, धाराप्रवाही ज्ञान की एकाग्रता और गुण की उज्ज्वलता प्रतिक्षण बढ़ती जाती है।

जो कुछ चारित्रमल का सूक्ष्म उदय आता है, उसे क्षपकश्रेणी

के द्वारा नष्ट करता हुआ साधक, स्वरूपश्रेणी की लीनता में आरूढ़ होता हुआ '**अनन्य चिन्तन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो**' की दशा प्रगट करता है। यहाँ अत्यन्त एकरूपता रहती है।

जैसे, कुशल घुड़सवार को लाख रुपये के मूल्यवाले घोड़े पर आरूढ़ होने के बाद पाँच गाँव का अन्तर पूरा करने में कितनी देर लगेगी? अर्थात् अधिक देर नहीं लगती; उसी प्रकार जो साधक अपूर्वकरण की स्थिरता द्वारा स्वरूपरमणता में एकाग्ररूप आरूढ़ हुआ है, उसे केवलज्ञान प्रगट करने में कितनी देर? अर्थात् देर नहीं लगती। अनन्य चिन्तन द्वारा अतिशय शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप में मेरी लीनता बढ़ती जाए और उसमें आरूढ़ होकर क्षपकश्रेणी शुरू करूँ – ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हो, यह भावना श्रीमद् ने इस पद में की है। ●●

सन्तों की अनादि दशा

अन्तर में आत्मा का भान होने के बाद राग-द्वेष और परिग्रह हो, वहाँ तक श्रावकदशा होती है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा तो अन्तर में विशेष लीनता द्वारा राग-द्वेष मिटकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती दशा प्रगट होने पर ही होती है - ऐसी अनादि सन्तों की दशा है। अहो! वह दशा कब आयेगी? ऐसी भगवान को भावना थी।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती पृष्ठ 138)

काव्य - 14

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थित त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अन्त समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

मोह स्वयंभूरमण उदधि को तैर कर,
प्राप्त करूँगा क्षीणमोह गुणस्थान जब।
अन्य समय में पूर्णरूप वीतराग हो,
प्रगटाऊँ निज केवलज्ञान निधान जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य - 14 पर प्रवचन

अब, श्रीमद् इस 14 वीं गाथा में केवलज्ञान प्रगट होने की भावना करते हैं –

जैसे, राजमहल में जाने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं; वैसे ही अपने सहजस्वरूप / स्वराजमहल में जानेवाले का लक्ष्य, अपने पूर्ण पवित्र मोक्षस्वरूप में है। जैसे, महल में जाने के लिए नीचे की सीढ़ियाँ छूटती जाती हैं; वैसे ही स्वराजमहल में जाने के लिए चौदह गुणस्थानरूप सीढ़ियाँ हैं।

पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। उस गुणस्थानवाले बहिरात्मा जीवों को अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है। बहिरात्मा यह नहीं मानता कि मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, चिदानन्द, शाश्वत हूँ। मेरे में ही स्वाधीन सुख, अपरिमित आनन्द-शान्ति है, उसे ऐसा विश्वास नहीं होता। वह देहादि, राग-द्वेष, पुण्य-पाप को अपना मानता है। वह देहादि बाह्य संयोगों में इष्ट-अनिष्ट और सुख-दुःख की मिथ्या कल्पना कर राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष -शोक का भोक्ता बन जाता है। वह मोही जीव जो कुछ मानता है, जानता है, आचरण करता है, वह सब उल्टा है; इसलिए उसके मिथ्या अभिप्राय, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र होते हैं, अर्थात् उसके श्रद्धा, ज्ञान और आचरण असत्य / मिथ्या हैं।

दूसरा और तीसरा गुणस्थान, चौथे गुणस्थान से गिरनेवाले के होता है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होकर शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। जब देहादि तथा रागादि से भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप का ज्ञान होता है, तब स्वानुभव-स्वरूपाचरण प्रगट होता है किन्तु तब चारित्रगुण पूर्णरूप से प्रगट नहीं होता।

पाँचवाँ देशविरतिगुणस्थान है, उसमें आंशिक स्थिरता है, जो देशविरति कहलाता है। उसके बाद छठवें और सातवें गुणस्थान में सर्वविरतिरूप मुनिपना है।

आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान में जिसके क्षपकश्रेणी होती है, उसके अतिशय शुद्ध स्वभावमय पवित्रदशा बढ़ती जाती है। तत्पश्चात् क्रमश: नववाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है। वहाँ से सीधा बारहवाँ गुणस्थान होता है, वहाँ मोह का क्षय करके, जीव तेरहवें गुणस्थान में सयोगीकेवली जिन – वीतराग सर्वज्ञ भगवान होता है, तब उसके अनन्त चतुष्टय पूर्णरूप से प्रगट होते हैं। यहाँ बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान के अन्तिम समय की बात है।

श्रीमद् ने मोह को स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दी है। उस समुद्र का माप असीम विस्तारवाला है। दो हजार कोस का एक योजन और ऐसे असंख्यात योजन का वह महासमुद्र है। इस मध्यलोक को तिर्यक्लोक कहा जाता है और उसके मध्य में जम्बूदीप एक लाख योजन के विस्तारवाला थाली के आकार है। उसके आगे एक-दूसरे को घेरे हुए वलयाकार असंख्यात द्वीप -समुद्रों की परम्परा है, उसमें अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है।

साधक यह विचारता है कि जैसे मोह महासमुद्र-जैसा है; वैसे ही मेरे में भी उससे भी अनन्त गुणी अपरिमित / बेहद शक्ति है, इस कारण मैं प्रगटदशा में आत्मा की इतनी असीम स्थिरता को बढ़ाऊँ कि उससे मोह सर्वथा दूर हो जाए और मैं जैसा शुद्ध पवित्र ज्ञानधन हूँ, वैसा प्रगटदशा में भी बना रहूँ। स्वरूप में अत्यन्त सावधानी रखूँ, जिससे चारित्रमोह स्वयं क्षय हो जाए।

अज्ञानी मोही जीव अनादि काल से अपनी भूल के कारण संसार में भ्रमण करता है। परद्रव्य-परभाव में अपनत्व का भ्रम करने से, अपने में सुख-शान्ति है - ऐसा नहीं मानता। परवस्तु में सुख-शान्ति की कल्पना की है। जीव, अपनी भूल से राग-द्वेष, अज्ञान द्वारा महा-अविवेकी हुआ है। साधक जीव ने उस भूल को सत्समागम और सद्विवेक द्वारा दूर किया है। इसलिए चारित्रमोह की शक्ति के सम्बन्ध में वह कहता है कि उस मोह की शक्ति से अनन्त गुणी शक्ति, चैतन्य में है किन्तु थोड़ी-सी अस्थिरता है, उसको दूर कर क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होकर आठवें, नववें, दसवें, गुणस्थान में जाकर अतिशय शुद्धस्वभाव की अधिक उज्ज्वल स्थिरता को बढ़ाते हुए चारित्रमोह का क्षय कर 'क्षीणमोह' नामक बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करूँ, जहाँ पूर्ण स्थिरता, अर्थात् शुद्धस्वभाव की लीनता में अकेले चैतन्य आनन्दघन शान्तरस का अनुभवन होता है।

जब वीतरागदशा के पूर्ण करने का वीर्य स्व-स्वरूप में बढ़ता है, तब उसके '**प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो**' - ऐसी दशा होती है। जो शक्तिरूप में है, उसे पूर्णरूप से प्रगट होने पर अनन्त आनन्द और केवलज्ञानलक्ष्मी प्रगट होती है।

केवलज्ञान में पर को जानने का लक्ष्य या विकल्प नहीं है, फिर भी पर जाना जाता है - ऐसा सहजस्वभाव है। आत्मस्वभाव में अपरिमित केवलज्ञान भरा हुआ है। उस पूर्णता के लक्ष्य में पुरुषार्थ करके पूर्ण स्थिर होऊँ, तो केवलज्ञानज्योति और वीतराग -सर्वज्ञ परमात्मपद प्रगटे - ऐसा साधक जानता है। पूर्ण शुद्ध

चेतनास्वरूप – ऐसा केवलज्ञान, वह जीव का निधान है। केवलज्ञान को 'अनन्त चक्षु' या 'सर्व चक्षु' भी कहा है।

केवलज्ञान में लोक-अलोक (सम्पूर्ण विश्व) अणु की तरह, त्रैकालिक द्रव्य-गुण-पर्यायसहित एक समय में स्पष्ट दिखता है। ऐसा अचिन्त्य असीम ज्ञानशक्तिवाला केवलज्ञान, प्रत्येक आत्मा सदा चैतन्यमय होने से उसके स्वद्रव्य और स्वभाव में त्रिकाल -शक्तिरूप से विद्यमान रहता है; उसका किसी भी समय अभाव नहीं है।

'सर्व जीव है सिद्ध सम, जे समझें वे होंय।' गृहस्थावस्था में पूर्णता के लक्ष्य से यह भावना की है कि मैं जल्दी केवलज्ञान -लक्ष्मी प्रगट करूँ। साधक जीव, सर्व प्रथम सिद्धपरमात्मा जैसा (अपना) शुद्ध-आत्मस्वरूप है, उसे यथार्थरूप से जानकर, परमपदप्राप्ति की भावना करता है।

सब प्रकार से त्रिकाली आत्मद्रव्य को जैसा है, वैसा जानने से ही सच्चा समाधान होगा और उसी से अज्ञानमय राग-द्वेष भी नहीं होंगे। 'आकुलता (अशान्ति) से रहित केवल समता, अर्थात् असीम आनन्दमय परमसुख मुझमें ही है' - जिसे ऐसा यथार्थ अनुभव, अर्थात् स्वसंवेदन होने के बाद बाह्यवृत्ति की तरफ रुचि नहीं रहती, उसे ही केवलज्ञान की भावना होती है। 'इस स्वरूप की पूर्णता शीघ्र प्रगटे '- यह भावना इस काव्य में की गयी है। ●●

काव्य - 15

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवना बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्व भाव-ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य-अनन्त प्रकाश जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

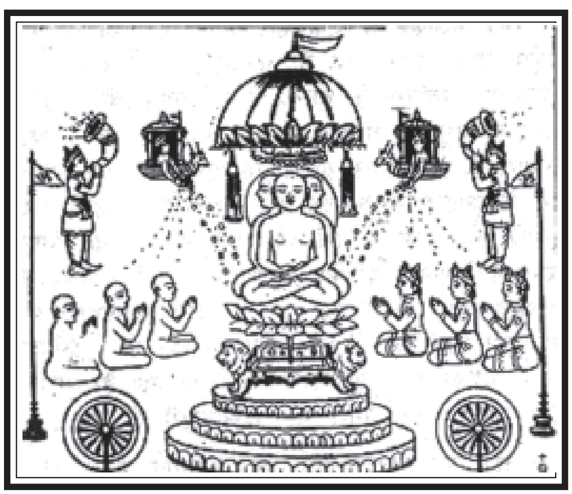

चार घातिया कर्मों का क्षय हो जहाँ,
हो भवतरु का बीज समूल विनाश जब।
सकल ज्ञेय का ज्ञाता-दृष्टा मात्र हो,
कृत्यकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य - 15 पर प्रवचन

केवलज्ञाल प्रगट होने पर आत्मा की कैसी दशा होती है ? – यहाँ यह बताते हैं।

तेरहवें गुणस्थान में आत्मा की पूर्ण शुद्ध, पवित्र केवलज्ञानदशा प्रगट होती है, भव के बीज का नाश होता है, चार घातियाकर्म का नाश होता है। अनन्त चतुष्टय — अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की हीनता में चार घातियाकर्म — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - निमित्त हैं। आत्मा स्वयं विपरीत परिणमे तो वे 'निमित्त' कहलाते हैं। कर्म घनघाती हैं और आत्मा ज्ञानघन है। कर्म का स्वभाव, बन्धरूप है तो आत्मा का स्वभाव, मोक्ष है। जिसने इस स्वभाव को पहचान लिया, उसे जड़कर्म का बल नहीं दिखता। तेरहवें गुणस्थान में चार घातियाकर्मों का क्षय होता है और उससे संसार के बीज का नाश होता है। चार अघातियाकर्म – वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र - जली हुई रस्सी की तरह रहते हैं; इसलिए वे स्वरूप को विघ्नरूप नहीं हैं।

'सर्वभाव-ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता' - निश्चय से केवल निजस्वभाव का अखण्डज्ञान वर्तता है - ऐसा समझना वास्तविक परमार्थ है। अज्ञानी मानता है कि केवलज्ञान होने से लोक और अलोक दिखते हैं। उसको लोकालोक देखने में ही माहात्म्य लगता है, यह उसकी बाह्यदृष्टि (व्यामोह) है। दूसरे ज्ञेयों को जानने का व्यामोह पराश्रितभाव कहलाता है। इससे ऐसा हुआ कि चेतन में, स्वज्ञेय में जानने-योग्य कुछ नहीं है - ऐसा अज्ञानी मानता है। जब कि ज्ञानी की अपने स्वरूप के अखण्डज्ञान पर दृष्टि है। 'परज्ञेयों

का सम्पूर्ण जानना, केवलज्ञान है' – यह निमित्त का उपचार कथन है। अपने पुरुषार्थ से पूर्ण केवलज्ञान स्वाधीनरूप से प्रगट होता है, उसमें पर को जानने की इच्छा नहीं है। जहाँ 'केवल' अपने स्वभाव का अखण्ड निर्विकल्प 'ज्ञान' रहता है, वहाँ परवस्तु, अर्थात् जगत् के अनन्त पदार्थ उस निर्मलज्ञान में सहज ही जाने जाते हैं। यह न्याय इस गाथा में आ गया है।

'सर्वभाव-ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता', अर्थात् सर्व द्रव्य -क्षेत्र-काल और भाव एक समय में उस केवलज्ञान में सामान्य और विशेषरूप से एक साथ सहज ही जाने जाते हैं।

जगत् में अनन्त जीव और अजीव हैं, वे सब स्वतन्त्र द्रव्य हैं, उनमें से प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेषपना है। सामान्य सत्तामात्र अवलोकन-व्यापाररूप दर्शनउपयोग में सर्व विश्व को देखना सहज ही हो जाता है। उसी समय उन सभी द्रव्यों की एक समय में होनेवाली उत्पाद-व्यय-स्वरूप अवस्थाविशेष भी ज्ञानोपयोग में सहज ही झलक जाती है। इस तरह अपना अखण्ड ज्ञान-दर्शन एक साथ प्रवर्तता है।

आत्मा की श्रद्धा होने के बाद स्वरूप की रुचि और भावना (एकाग्रता) बढ़ते-बढ़ते अखण्डता के अवलम्बन द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट होती है। तेरहवें गुणस्थान में भावमोक्षदशा है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की दशा ही 'सह शुद्धता' है। अनन्त वीर्य पूर्णरूप से प्रगट हुआ है, इसी से **'कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जो'** – यह दशा होती है। यह वीर्यगुण आत्मा के सर्व गुणों को स्थिर रखनेवाला है। ऐसा कृतकृत्य वीर्य, अर्थात् स्वरूप का बल, वह सहजस्वभाव में एकरूप है।

प्रश्न : यह पूर्ण कृतकृत्य शुद्धस्वभाव कैसे प्रगट हुआ, अर्थात् प्राप्त की प्राप्ति किस से क्रम से हुई ?

उत्तर : जीव, अनादि काल से भेदज्ञानरहित होने के कारण देहादि, पुण्य-पाप, रागादि जड़कर्म में एकत्वबुद्धि से, अर्थात् ये मेरे हैं - ऐसी मान्यता से, अहंभावपूर्वक बन्धन में रुका था। उसे सत्समागम द्वारा आत्मा के शुद्धस्वरूप की यथार्थ प्रतीति करने से, स्व और पर का विवेक जागृत हुआ और उसने स्वानुभव की दशा उत्पन्न की। 'मैं शुद्ध हूँ' - ऐसी यथार्थ श्रद्धा और भेदज्ञानसहित स्थिरता के अभ्यास द्वारा चारित्रमोह का क्षय कर उसे निराकुल आनन्द, बेहद सुख-शान्ति-स्वरूप की प्राप्ति हुई। पूर्ण प्रभुत्वशक्ति हुई, वहाँ कोई आवरण नहीं रहा।

बारहवें गुणस्थान में चारित्रमोह का क्षय हो जाने से पूर्ण वीतरागतारूप शुद्धता प्रगट होती है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की पूर्ण शुद्धता प्रगट होने में अन्तर्मुहूर्त लगता है। उससे सहजपुरुषार्थ से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय का क्षय हो जाता है। अनन्त-चतुष्टमय सुप्रभातरूपी केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है। राग-द्वेषरूप मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से वह 'जिन' कहलाता है। पूर्ण कृतकृत्य होने से वह 'परमात्मा' कहलाता है। उसे ईश्वर, शिवस्वरूप, जिनेश्वर, भगवान, वीतराग आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जा सकता है। सम्पूर्ण ज्ञानदशा को '**सर्वभावान्तरच्छिदे**' भी कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि केवलज्ञान-दर्शन में स्व और स्व से भिन्न समस्त जीव-अजीव चराचर पदार्थ तथा उनके समस्त क्षेत्र, काल, भाव

एक ही समय में स्वाभाविकरूप से सामान्य और विशेषरूप से स्पष्ट जाने-देखे जाते हैं।

निश्चय से अपने अन्तिम पुरुषाकार अरूपी ज्ञानपिण्ड में केवल निजस्वभाव का अखण्ड ज्ञान-दर्शन एक ही समय में वर्तता है। देह रहते हुए भी जीव के जो सर्वज्ञदशा होती है, वह तेरहवाँ गुणस्थान है। 'केवलज्ञान, अनन्त को नहीं जानता है; केवलज्ञान में सम्पूर्ण सर्वज्ञता नहीं है' - इस मान्यता का निराकरण उक्त कथन से होता है।

'आत्मा एक ही नहीं, अपितु अनन्त आत्माएँ हैं' - यह भी सिद्ध हुआ। अजीव-अचेतन पदार्थ भी अनन्त हैं। ईश्वर, सर्वज्ञ, भगवान या परमात्मा - जो कुछ कहो, वह जगत् की व्यवस्था का करनेवाला नहीं है - यह भी साथ में सिद्ध हुआ।

'मैं शुद्ध हूँ' - ऐसी जिसे आत्मा की अपूर्व रुचि है, वह देहादि बाह्यनिमित्त को तथा काल-कर्म के कारण को नहीं देखता, किन्तु वह पूर्ण शुद्धस्वरूप प्रगट करने को ही भावना निरन्तर करता है।

यदि संसार की रुचिवाले के कभी पुण्ययोग से एक बच्चा ही हो जाए तो उसको उस बच्चे का विवाहोत्सव करने का उल्लास बहुत दिन पहले ही शुरु हो जाता है और उस सम्बन्ध में काफी चिन्तन होता रहता है। उसकी माँ भी अनेक गीत गाकर प्रेम प्रगट करती है। उसकी आवाज भी बैठ जाती है, फिर भी वह रात-दिन के जागरण और थकावट को कुछ भी नहीं गिनती। इस विवाह प्रसङ्ग में वह बहुत तल्लीन हो जाती है। ऐसा विपरीत

पुरुषार्थ संसार की रुचिवाले करते हैं; वे अन्य बात नहीं सुनते, न याद करते हैं।

अब, ऐसी रुचिवाले का दूसरा मोड़ भी देखिए। वह संसार की रुचि को अपने पुरुषार्थ द्वारा हटाता है। 'मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ; पुण्य–पाप, रागादिरहित अक्रिय ज्ञानमात्र हूँ' – ऐसी यथार्थ श्रद्धा और पर से भिन्नत्व का ज्ञान होने से अपने पूर्ण शुद्धस्वरूप को प्रगट करने की भावना उत्कृष्ट रुचि द्वारा भाता है। साधक गिरने की बात याद नहीं करता और बाह्य देहादि निमित्तकारणों तथा काल के कारणों को भी नहीं देखता, क्योंकि उसकी श्रद्धा में अपूर्व मङ्गलपना है, उसे पूर्ण स्वरूपप्राप्ति का महान उत्साह रहता है।

देखो तो सही! श्रीमद् गृहस्थावस्था में थे। उनकी 29 वर्ष की युवा अवस्था थी, फिर भी उनको अपनी भावना में पूर्ण आत्मा का भान और साधकस्वभाव की लगन थी। श्रीमद् पाँच वर्ष बाद ही समाधिमरण धारण करनेवाले थे। इस अपूर्व जागृति का कैसा स्वरूप होगा? 'एक ही भव में मोक्षस्वरूप प्रगट होगा' – ऐसी भावना, इस प्रकार का विश्वास और दृढ़तर उत्कृष्ट रुचि कैसी होगी? ऐसा विचार, मनन, चिन्तन प्रत्येक आत्मा को करनेयोग्य है। यथार्थ श्रद्धा होने के बाद उसकी रुचि और प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ बढ़ता जाता है। इस प्रकार की प्रगट चारित्रदशा (निर्ग्रन्थ मुनिदशा) वर्तमान में न हो सके, यह अलग बात है किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक भायी जा सकती है।

सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में परमाणुमात्र तक की इच्छा नहीं है, उसके देहादि समस्त परद्रव्यों में निर्ममत्वभाव रहता है। उसे

हेय-उपादेय का यथार्थ विवेक रहता है। 'मैं पूर्ण शुद्ध सिद्ध के समान हूँ, इसलिए वैसा ही बनूँ; वह एक ही आदरणीय है।' वह पुरुषार्थ के अपूर्व अवसर की भावना तो वर्तमान में कर ही सकता है।

इस काल में भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थङ्करप्रभु ने एक भवावतारी जीव बताये हैं। स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, स्वरूप के लक्ष्य में जिन-आज्ञा का विचार, वीतरागस्वरूप का चिन्तवन, स्वरूप-स्थिरता की उत्कृष्ट रुचि, उसका रात-दिन मनन-अभ्यास, उत्साह, जागृति इस काल में भी हो सकती है। संसार का अणुमात्र भी प्रेम न रहे - ऐसी वीतरागचारित्र की भावना, धर्मात्मा जीव निरन्तर भाता है। ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरी से गृहस्थदशा में रहा हो, तथापि उस दशा में रहने पर भी उसको एक भवावतारी होने का असंदिग्ध (निःशङ्क) विश्वास होता है। यह केवल कथनमात्र नहीं है। अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चे आत्मधर्म की रुचि, ऐसे ही जीव को होती है। शान्त-स्थिर चित्त से वही विचार करता है। संसारी जीव, संसार की उपाधि में सुख मानता है। मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादि के व्यवसाय की ममता छोड़कर थोड़ी सी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्व का वह विचार नहीं करता।

संसारी जीवों में खोटी प्रवृत्तियों ने जड़ें जमा ली हैं, इससे खाने-पीने आदि अनेक प्रकार की शारीरिक प्रवृत्तियों से निवृत्ति नहीं मिलती। भोजन में भी कितनी गृद्धता रहती है। रोजाना की दो-तीन-साग आदि विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से स्वाद की इच्छाओं के पोषण करने का बहुत जोर रहता है; स्त्री को भी रसोई

के कार्य से छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे अनेक विषयासक्त परिणामों और व्यवसायों में आत्मा की चर्चा किसे सुहावे ?

समस्त संसार दुःख से त्रस्त है। उपाधि कितने व्यापकरूप में है ? उसमें कितनी अशान्ति व्याप्त है ? इतना होते हुए भी देहादि की ममता के आगे संसारी जीव को उस अशान्ति और दुःख का भान नहीं होता। वह दिन-रात सब्जी, मिठाई तथा मान, प्रतिष्ठा, बड़प्पन आदि का ही विचार किया करता है। विषय, कषाय और देहादि की आसक्ति कम किये बिना आत्मा की रुचि, सच्ची प्रतीति कैसे हो ? जिसे सत्पुरुष के आश्रय में चलना हो, उसे संसार में सुखबुद्धि की ममता छोड़नी होगी।

मुमुक्षु के लक्षण धारण करके स्वरूप की प्राप्ति के लिए सत्समागम का अभ्यास रखकर और उसमें दृढ़ होकर, उसके पीछे तीव्र जिज्ञासा और आत्महित का मनन किये बिना सच्चेमार्ग का आंशिक भान भी नहीं होता। ऐसी दशा में भवभ्रमण का भय कैसे मिटे ? जो रात-दिन अपने संसार के अन्त करने का विचार करते रहते हैं, उनको संसार का भय कैसे रहे ? वे मुनि धन्य हैं ! वह वीतरागीदशा धन्य है ! वह अपूर्व अवसर की स्थिरता-रमणता कब आवेगी ? ऐसी तैयारी करने की उनकी यह भावना है।

'रुचि अनुयायी वीर्य', अर्थात् जहाँ जिसकी जैसी रुचि हो, वहाँ उसका वैसा पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। अपने को जिसकी आवश्यकता है, उसका निष्पक्षभाव से निश्चय करना चाहिए। उसमें विरोधी कारण क्या हैं ? - इस बात का ज्ञान पहले होना चाहिए।

जिसे सच्चे हित, अर्थात् मोक्षपद की रुचि है, उसे संसार के किसी भी पदार्थ की रुचि नहीं होती। यह मेरा शरीर स्थिर रहे,

बाह्य की अनुकूलता मिले तो ठीक रहे, आदि इच्छाएँ करने का मुमुक्षु जीव को अवकाश ही नहीं मिलता। ऐसा प्रामाणिक अभिप्राय प्रथम से ही होना चाहिए।

विचार करो कि आत्मा को पर से भिन्न मानते हैं क्या ? यदि हाँ, तो उसका लक्षण क्या है ? मैं आत्मा हूँ तो कैसा हूँ ? कितना बड़ा और मेरा कार्य क्या है ? यह सब पहले निश्चित करना चाहिए क्योंकि अनन्त काल से समझ में, मानने में भूल चली आयी है। अपने स्वभाव में खतौनी की भारी भूल है, जिसमें सारी भूलें समा जाती हैं। मन, वचन और काय आदि जड़ की कोई क्रिया चेतन के हाथ नहीं है क्योंकि अरूपी आत्मा, रूपी जड़ की क्रिया करे या पर की व्यवस्था करे, यह सर्वथा असम्भव है।

पुण्य-परिणाम, शुभयोग की क्रिया, वह मोहजन्य है, औदयिकभाव है, बन्ध का कारण है। शुभराग, पराश्रितभाव होने से, उससे अविकारी आत्मा में कोई गुण मानना भूल है। पुण्य-परिणामों को करने योग्य या इष्ट मानना और उनको आत्मा के हित में कारण मानना भूलरूप मान्यता है। ऐसे विपरीत पुरुषार्थ से अबन्ध और शुद्ध आत्मा का अंश भी कैसे जागृत हो ? बन्ध और कर्मभाव से अबन्ध-निष्कर्म अवस्था कभी नहीं प्रगट होती। इसलिए - **(1) स्व-पर की भिन्नता, (2) विरुद्धभाव की विपरीतता, और (3) स्वभाव की सामर्थ्यता विरोधरहित जानना।** आत्मा की यथार्थ श्रद्धा बिना, सभी साधन बन्धनस्वरूप हो जाते हैं।

'जड़कार्यों या संसार की व्यवस्था आत्मा करता है' - ऐसा मानना चक्रवर्ती राजा के सिर पर मल का बोझा डालने जैसा

अनुचित कार्य है। आत्मा का 'अबन्धस्वभाव' है, जिसे जीव अज्ञानभाव से 'बन्धवाला' मानता है। जड़ का बन्धस्वभाव है, उसका आत्मा में उपचार कर 'मैं पुण्य करूँ तो ठीक, इससे आत्मा का साधन होगा, गुण होगा' – यह जो मानता है, उसने स्वगुण का घात किया है।

आत्मा का भान होने के बाद 'मैं अबन्ध हूँ, असङ्ग हूँ' – ऐसे लक्ष्यसहित स्थिर ज्ञातापने में सावधान रहने का पुरुषार्थ, भूमिका–अनुसार होता है। उसमें तीव्रकषाय दूर होकर मन्दकषाय, शुभयोग, पुण्यपरिणाम हुए बिना नहीं रहते, किन्तु धर्मात्मा उसमें हित नहीं मानता क्योंकि अपना सच्चा अभिप्राय तथा पुरुषार्थ अपने पूर्ण शुद्धत्व की ओर है। पूर्णपद ही उसका लक्ष्य है; उससे नीचे शुभाशुभभाव होते हैं, उनको वह विवेकसहित जानता है। जो परावलम्बीभाव है, वह औदयिकभाव है, उसको करने योग्य और ठीक कैसे माने ? चैतन्य भगवान, देहादि की क्रिया का कर्ता नहीं है। मैं पर से भिन्न केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ' – ऐसी श्रद्धा और भावनावाले को अल्प काल में चारित्रदशा आये बिना नहीं रहती। उसके भावी भव का अभाव ही है।

श्रीमद् को सातवें वर्ष में जातिस्मरणज्ञान हुआ था। उनकी स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि कोई भी पुस्तक एक बार पढ़ने के बाद दुबारा पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती थी। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पैंतालीस आगमसूत्र बहुत थोड़े समय में पढ़े गये थे और उन्हें दिगम्बर सत्शास्त्रों का अच्छा अभ्यास था। जैन शासन का रहस्य उनके हृदय में भरा हुआ था। ऐसी विशाल और तीक्ष्ण बुद्धिवाले श्रीमद् थे किन्तु बाह्य में समाज स्थिति देखकर स्पष्टरूप

में लिखने का अवसर नहीं आया। वे लोकसम्पर्क से दूर रहना चाहते थे और निरन्तर स्वरूप की सावधानी का विचार, शास्त्र –स्वाध्याय तथा गम्भीर मनन करते थे और भावना करते थे कि कब निवृत्ति लेऊँ?

धर्मात्मा अपनी अन्तरङ्ग की स्थिरता बढ़े बिना हठपूर्वक त्याग करके संसार से भागते नहीं, क्योंकि हठ से कुछ नहीं होता। स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ बढ़ने पर मुनिपद की भावना और मुनित्व आता ही है।

धर्मात्मा गृहस्थ को अस्थिरता के कारण शुभ और अशुभ वृत्ति होती है किन्तु उसका आदर नहीं है। उनकी दृष्टि में संसार का अभाव रहता है और वह वैराग्य बढ़ाता हुआ मोक्ष की भावना भाता है।

जहाँ जिसकी रुचि हो, वहाँ उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। धर्मात्मा को निवृत्ति का ही विचार आता है, स्वप्न में भी उसका ही विचार होता है। संसार की ममता कम करके कुछ महीने निवृत्ति लेकर सत्–समागम करे और बारम्बार शास्त्र का अध्ययन, मनन और विचार करे तो मोक्ष की रुचि बढ़ती है। तत्त्व की यथार्थ रुचि होने पर स्थिरता की प्राप्ति के लिए अनन्त वीर्य प्रगटे – ऐसा अपूर्व अवसर (स्वकाल; दशा) कब आवे – ऐसी भावना इस गाथा में भायी है।

इस तेरहवीं भूमिका में आत्मा की पूर्ण शान्तसमाधि (असीम सुखदशा) रूप परमावगाढ़सम्यक्त्व और यथाख्यात्चारित्र प्रगट होता है।●●

काव्य - 16

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बळी सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटिये दैहिक पात्र जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

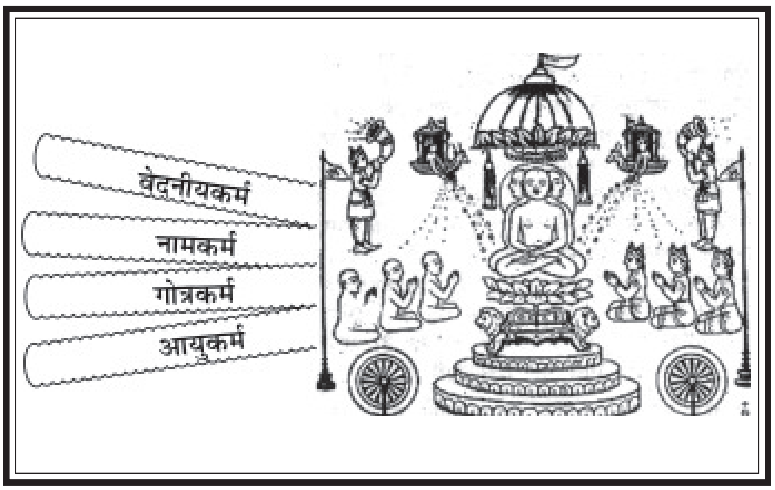

चार अघाति कर्म जहाँ वर्ते प्रभो,
जली जेवरीवत् हो आकृति मात्र जब।
जिनकी स्थिति आयु कर्म आधीन है,
आयुपूर्ण हो तो मिटता तन-पात्र जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य - 16 पर प्रवचन

केवलज्ञानी के चार अघातियाकर्म कैसे होते हैं – यह सोलहवीं गाथा में बताते हैं।

तेरहवीं भूमिका में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रगट होता है किन्तु अब भी चार अघातियाकर्म जली हुई जेवड़ी (रस्सी) की भाँति विद्यमान रहते हैं किन्तु वे बाधक नहीं हैं और आयु पूर्ण होने तक उनकी स्थिति है। आयु पूरी होने से जीव की देह में रहने की स्थिति पूरी होती है और वह मुक्ति प्राप्त करता है, फिर जन्म नहीं होता।

जब तक आत्मा का यथार्थ भान नहीं होता; तब तक परवस्तु, देहादि, पुण्यादि में कर्तृत्व, ममत्व और सुखबुद्धि दूर नहीं होती। जीव यदि कभी अज्ञानपूर्वक शुभपरिणाम करे तो पापानुबन्धी पुण्य बाँधेगा और परम्परा से नरक-निगोद में जाएगा। यह निश्चित है कि आत्मा के भान एवं श्रद्धान बिना, भव (संसार)कम नहीं होता।

सच्चे हित की समझ बिना इस जीव की अनन्त काल से इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ा है। इसने कभी अपूर्व ज्ञान द्वारा आत्मा को पर से भिन्न नहीं समझा, जिससे आत्मा हमेशा कर्म -बन्धन में रहा और शरीर-सम्बन्ध नहीं छूटा। एक शरीर से छूटकर अन्य शरीर धारण के लिए जाते समय भी तैजस और कार्मणशरीर बराबर आत्मा के साथ ही रहते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना बाहर में भी बहुत से प्रतिकूल संयोग दिखते हैं क्योंकि निर्दोष ज्ञाताशक्ति को भूलकर यह जीव पराश्रय से लाभ मानता है, परसत्ता को स्वीकार कर बन्धभाव में लगा हुआ है; परवस्तु में सुखबुद्धि

और इष्ट–अनिष्ट की कल्पना करके रागी–द्वेषी होता है और आत्मा को भूलकर पुण्यादि पर–उपाधि में सुख मानता है।

जैसी मान्यता होती है, वैसी ही रुचि होती है और रुचि –अनुसार आचरण हुए बिना नहीं रहता। अपने में ही अनन्त आनन्द भरा हुआ है, इसका जीव को विश्वास नहीं होता; इस कारण आनन्द से विपरीत दुःख अवस्था और अशान्ति का ही साम्राज्य रहता है। आत्मा, स्वयं स्वतन्त्र आनन्दरूप है। यदि उसकी प्रगट आनन्दरूपदशा न हो तो दुःखरूप अवस्था ही प्रगट होगी। जीव ने अपने को भूलकर पर से ममत्व किया, इससे उसने अपने आनन्द को क्रोध, मान, माया, लोभ द्वारा बिगाड़ा, अर्थात् अपने स्वाधीनस्वरूप (ज्ञातास्वभाव) का ही विरोध किया।

स्वभाव के अनन्त सुख को छोड़कर पुण्य–पाप, मान–अपमान के वश होकर जो यह मानता है कि 'मैं सुन्दर हूँ; अन्य को मैं जैसा रखूँ, वैसा ही रहे; मैं अन्य को सुखी–दुःखी कर सकता हूँ; जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ या उसकी व्यवस्था कर सकता हूँ, वह अपने चैतन्य के शान्तिस्वरूप को भूलता है। पर की व्यवस्था को मैं रख सकता हूँ – ऐसा जो मानता है, वह महा–उपाधिरूप अशान्ति को पाता है।

लोग एक–दूसरे की कुशलक्षेम पूछते हैं, तब उत्तर में कहा जाता है कि 'आनन्द है, मुझे दुःख नहीं है'..., किन्तु थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम पड़ता है कि महामोह ने आत्मा के आनन्द को लूट लिया है; क्रोध, मान, माया और लोभ से प्रतिक्षण स्व की हिंसा और अशान्ति हो रही है, उसे कौन देखता

है ? जैसे, कोई जीव बहुत शराब पीकर मल-मूत्र में पड़ा हुआ भी आनन्द मानता है; वैसे ही आत्मज्ञान से रहित मूढ़ जीव, परवस्तु में आनन्द मानता है।

अज्ञानी कहता है कि उसने आत्मा को शरीर से भिन्न मान लिया है और वह धर्मक्रिया कर रहा है, तो यह बात मिथ्या है। जिसे अपनी रुचि और वर्तमान परिणामों की खबर नहीं है, वह धर्म के नाम पर शुभभाव भी करे तो पापानुबन्धी पुण्य बाँधेगा और साथ ही साथ मिथ्यात्व (मिथ्या अभिप्राय) का अनन्त पाप बाँधेगा।

अपने अनन्त आनन्दस्वभाव को भूलकर, अनन्त आनन्द से सर्वथा विपरीत अवस्था - दुःख, अशान्ति, क्रोध, मान, माया और लोभ में जीव लगे तो वह प्रतिक्षण आत्मा की भावहिंसा करता है। जो महा-अशान्ति में सुख की कल्पना करता है, वह अपनी ही अनन्त हिंसा करता है। जो स्वयं ही अपने को भूलकर धर्म को पराश्रित मानता है, उसे दूसरा कौन समझा सकता है ? स्वयं ही धैर्यपूर्वक अपने परिणामों को पहिचान ले, आत्म-अवलोकन के द्वारा अनादि से चली आयी भूल को दूर करे तो धर्म हो।

श्रीमद् राजचन्द्र ने युवावस्था में अपूर्व वैराग्य, उपशमभावसहित मोक्षपद की प्राप्ति के लिए यथार्थ वीतरागस्वरूप की भावनाकर बुद्धि का सदुपयोग किया था।

वर्तमान में साधारण बुद्धिवाले जीव ऐसा विचार करते हैं कि 'यह स्वतन्त्रता का युग है, बुद्धिवाद का युग है, हम अपना विचार किया हुआ पूरा कर सकते हैं' - इत्यादि बहुत प्रकार के स्वच्छन्दतापूर्वक विचारों में अपना पुरुषार्थ मानते हैं। अंग्रेजी

पढ़कर कई तो बहुत अहंभाव रखते हैं, अपने पूज्यजनों को मूर्ख मानते हैं और कहते हैं कि बुढ़े लोग धर्म का ढ़ोंग लेकर बैठे हैं। धर्म की अरुचि और पुण्य की अनुकूलता हो तो अभक्ष्यभक्षण, रात्रिभोजन आदि स्वच्छन्दता का सेवन करते हैं; तब 'हम चौड़े और गली सँकड़ी' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

ज्ञानी जीव भावना करता है कि मैं पूर्ण, शुद्ध, असङ्ग हूँ। उसे अपनी पूर्ण पवित्रता प्रगट करने की रुचि में संसार की रुचि करने का अवकाश नहीं रहता। ज्ञानी, स्वरूप की भावना करता है कि 'मैं नित्य, अतीन्द्रिय ज्ञानमय हूँ; परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।' वह क्रमशः स्वरूप में स्थिर होता हुआ संसार से निर्ममत्वी हो जाता है। अज्ञानी जीव, संसार में – देहादि–विषयों में एकत्वबुद्धि करता है कि 'यह मैंने किया, मैं यह कर सकता हूँ, मैंने दूसरों को सुखी किया और मेरे से ही यह सब कुछ होता है।' – इन मिथ्या विकल्पों से वह आत्मा को अपराधी, उपाधिवाला, जड़, पराधीन और पुद्‌गल का भिखारी बनाता हुआ, स्वयं विशेष दुःखी बनता है; उसे रात्रि में भी स्त्री, धन, व्यापार आदि के ही स्वप्न आते हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा श्रीमद् ने उनतीसवें वर्ष में अपूर्व अवसर की भावना भायी कि देहादि की उपाधि–चिन्ता उत्पन्न न हो और आत्मा का पूर्ण असङ्ग, शुद्धस्वरूप प्रगटकर अशरीरी बनूँ। परम तत्त्व की दृढ़ रुचि होने पर स्वप्न भी उस सम्बन्धी ही आते हैं। ऐसी रुचिवाला रात–दिन आत्मा को ही देखता है, जानता है और विचार करता है कि 'मैं अशरीरी हो जाऊँ।' 'मुमुक्षुओं का समुदाय एकत्रित है, नग्न निर्ग्रन्थ मुनियों के संघ मुझे दिखाई पड़ते हैं, मैं

मानो मुनि होकर मोक्षदशा में पहुँच गया हूँ' – इत्यादि प्रकार के स्वप्न ज्ञानी देखा करता है।

जिसे संसार की रुचि है, वह पुण्य-पाप, देहादि के कार्यों को अपने आश्रित मानता है, यह उसका अज्ञानमय कर्तृत्वभाव है, बन्धभाव है; आत्मा तो निराकुल चैतन्य आनन्दमूर्ति है।

'चेतनरूप अनूप, अमूरत, सिद्धसमान सदा पद मेरो'

– ऐसा मेरा पूर्ण पद शीघ्र प्रगट हो.... अन्तरङ्ग में ऐसी भावना का दृढ़ अभ्यास करने से चारित्रगुण विकसित होकर वीतरागता प्रगट होती है।

संसारी-मोही जीव, बाह्य उपाधि से तथा धर्म के नाम पर पापनुबन्धी पुण्यभाव द्वारा अपना विकास चाहता है, जबकि ज्ञानी मानता है कि वह आनन्द, स्वरूप की स्थिरता में ही विकसित हो सकता है। एक परमाणुमात्र की भी उपाधि उसके पास नहीं रहनी चाहिए। वह ऐसे अबन्धभाव में वीतरागदृष्टि द्वारा स्वरूप की सावधानी बढ़ाता है और अपूर्व स्थिरता (ज्ञान की एकाग्रता) की साधना करता है। इस पवित्रता की रमणता में देहादि-परमाणुभाव का सम्बन्ध भी दूर हो जाए – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? – ऐसी भावना इस गाथा में की गयी है। इस प्रकार की आन्तरिक व्यवस्था प्राप्त हुए बिना कोई भी मोक्षस्वभाव को प्राप्त नहीं करता।

शुद्ध आत्मस्वरूप कैसे प्रगट हो? – यह भावना इस गाथा में व्यक्त की गयी है। जिसमें जिसकी रुचि होती है, वह उससे कम नहीं माँगता, स्वीकार नहीं करता। जिसे संसार के धन, इज्जत आदि की रुचि है, वह रागादि-तृष्णा द्वारा खूब परिग्रह की इच्छा

करता है तथा वह जल्दी प्राप्त हो – ऐसी भावना करता है किन्तु ज्ञानी को उससे विपरीत सबल पुरुषार्थ होता है। वह यह समझता है कि यह संसार एकान्त दुःखमय है एवं अज्ञानजनित अशान्ति से दग्ध हो रहा है किन्तु आत्मा, संसार से भिन्न बेहद शान्ति–आनन्दमय ज्ञानघन है; उसे शुद्ध तत्त्वस्वरूप की एकाग्रतामय भावना होती है तथा क्रमशः पूर्ण की ओर रुचि बढ़ती जाती है। धर्मात्मा को अपने पूर्ण शुद्ध आत्मपद की ही यथार्थ श्रद्धा और रटन लगी रहती है, वह पूर्णता के लक्ष्य से पूर्ण होने की भावना करता है। ●●

देहातीत होती है मुनिराज की दशा

जिन्हें अशरीरी ज्ञायक भगवान आत्मा की दृष्टि-ज्ञान और रमणता वर्त रही है - ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिराज को 'मात्र देह, वह संयम हेतु होय जब' अर्थात् संयम के निमित्तभूत शरीर है परन्तु शरीर की कुछ पड़ी नहीं है; देहातीत जैसी दशा हो गयी है - ऐसी साधनामग्नदशा की भावना सम्यग्दृष्टि को होती है। श्रावक भी संयम के मनोरथ का सेवन करता है।

अहा! मुनिराज को देह है परन्तु देह की कोई दरकार नहीं है। एक निजात्म-साधना के अतिरिक्त अन्य किसी की उन्हें कुछ पड़ी नहीं है। संघ, शिष्य अथवा संस्था की तो नहीं, परन्तु कदाचित् संयम के हेतुभूत ऐसे शरीर की भी कुछ नहीं पड़ी है। देह होने पर भी जिनकी दशा देहातीत वर्तती है - ऐसी सहजदशा हो जाती है।

(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/115)

काव्य - 17

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्‌गल सम्बन्ध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

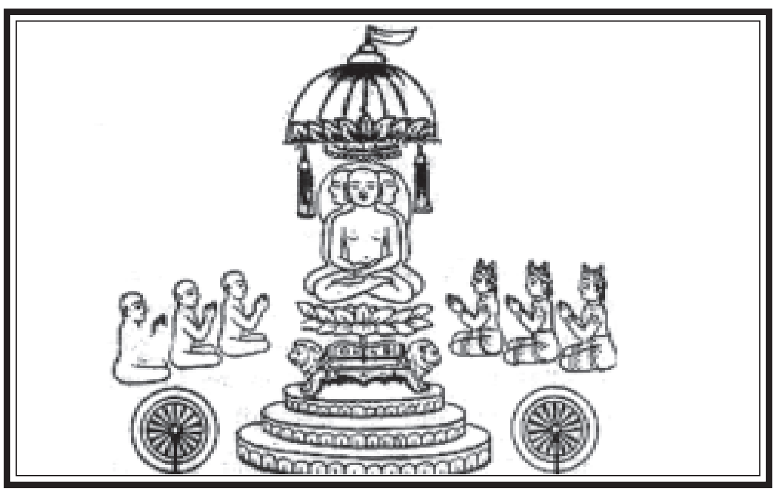

मन-वच-काया अरु कर्मों की वर्गणा,
जहाँ छूटे सकल पुद्‌गल सम्बन्ध जब।
यही अयोगी गुणस्थान तक वर्तता,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य - 17 पर प्रवचन

यहाँ अब चौदहवीं 'अयोगीजिन' भूमिका का कथन किया जाता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म, इन पुद्गल रजकणों का संयोगी सम्बन्ध था, वह अनादि काल से प्रवाहरूप से था। पुराने कर्म दूर होते जाते और नये कर्म आते - ऐसा अनादिकालीन प्रवाह था, वह चौदहवें गुणस्थान में रुकता है।

आत्मा अबन्ध है, अर्थात् मोक्षस्वभाववाला है। उसे भूलकर इस जीव ने बन्धभाव में अटक कर स्वयं ही अनन्त दुःख पाये हैं किन्तु जब से स्वसन्मुखता द्वारा सब बन्धभावों को भेदकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, तब से पूर्णता के लक्ष्य में स्थिरता का पुरुषार्थ बढ़ते-बढ़ते जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब वह तेरहवाँ गुणस्थान 'सयोगीकेवलीत्व' प्राप्त करता है। चौदहवें गुणस्थान में शेष चार अघाति आवरण के छूटने का काल पाँच ह्रस्व स्वरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के बोलने जितने समय का है। वहाँ आत्मप्रदेशों का कम्पन नहीं है तथा किसी भी कर्मपरमाणु का आस्रव नहीं है। उक्त पाँच ह्रस्व स्वरों में जितना समय लगे, उतने समय में आयु, नाम, गोत्र, और वेदनीय - इन चार कर्मों की स्थिति पूरी होकर, आत्मा अविनाशी, मुक्त / सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

तेरहवें गुणस्थान में साक्षात् सर्वज्ञप्रभु के पूर्ण वीतराग होते हुए भी योग का कम्पन होने से एक समयमात्र का कर्म का आस्रव होता है, जिसकी उसी समय निर्जरा हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान में जड़ देह के रजकण अति-उज्ज्वल स्फटिक जैसे स्वच्छ हो

जाते हैं और पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचे सहजरूप से उस देह का विचरण होता है।

यदि तेरहवें गुणस्थानवाले में 'तीर्थङ्कर' नामक नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का योग हो तो इन्द्रों द्वारा समवसरण की अलौकिक, आश्चर्यकारक रचना होती है। वहाँ गन्धकुटी, रत्नजड़ित सिंहासन, अशोकवृक्ष, मानस्तम्भ आदि अनेक प्रकार की अति सुन्दर रचना होती है। सौ इन्द्र, भगवान की भक्ति करते हैं। भव्य जीवों को अति उपकारी / निमित्तस्वरूप उनकी दिव्यध्वनि ॐकाररूप छूटती है। वे देह की स्थिति पूरी होने पर, अयोगी अवस्था पूर्ण कर सिद्धशिला पर शाश्वत् आनन्द में विराजते हैं।

सर्व जीव है सिद्धसम, जे समझे वे होंय।

प्रत्येक आत्मा में अनुपम, अतीन्द्रिय, अपरिमित सुख शक्तिरूप में विद्यमान है। द्रव्यस्वभाव ही सुखरूप है, स्वाधीन है। यदि वह शक्तिरूप में न हो तो कभी प्रगट भी नहीं हो सकता। आत्मशक्ति पूर्ण है, वह उसी प्रकार के (पूर्ण) श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र द्वारा प्रगट हो सकती है; अन्य उपाय से मोक्ष नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि पुण्य से नहीं, मन के शुभपरिणाम से नहीं, शरीर से नहीं, किन्तु आत्मा में से ज्ञान प्रगट करके और उसमें स्थिरता करने से मोक्षमार्ग और मोक्षदशा प्रगट होती है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी इस प्रकार की भावना आन्तरिक स्थिरतापूर्वक करते थे। वह भावना एक भव बाद पूर्णता प्राप्त करने की है, इसका उन्हें पूर्ण विश्वास है। 'अपूर्व-अवसर' में

श्रीमद् ने साधकस्वभाव का यथार्थ वर्णन किया है और क्रमशः उसके श्रेणीविकास का कथन किया है। दर्शनमोह के क्षय होने के बाद साधकदशा में आगे बढ़ते हुए क्षपकश्रेणी द्वारा आठवें गुणस्थान से चारित्रमोहकर्म के उदय का क्षय होता जाता है। बारहवाँ, गुणस्थान क्षीणमोह है। चार घातियाकर्मों के क्षय होने पर सर्वज्ञपद – तेरहवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। महाभाग्यवान पूर्ण सुखदायक अबन्धदशा प्रगट हो – ऐसा स्वकालरूप 'अपूर्व अवसर' कब आवे – ऐसी भावना इस गाथा में की गयी है। ●●

सिद्धपद के साधक-आराधक

सन्त तो अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञपद को ग्रहण कराने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। सिद्धपद को साध रहे हैं, उन्होंने निज चैतन्यगृह में सिद्धों का सत्कार किया है और रागादि परभावों को दूर किया है। अहा! अनन्त स्वभाव की साधना करनेवाले सन्त-मुनिवरों की क्या बात! सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय भी अनन्तगुण के रस से उल्लसित होती हुई आनन्दरूप हो गयी है। अहा! अनन्तगुण से गम्भीर ऐसे चैतन्यतत्त्व को साधनेवाले जीव की दशा भी महा गम्भीर होती है। *(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

काव्य - 18

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहजपदरूप जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

इक परमाणु मात्र की न स्पर्शता,
पूर्ण कलङ्कविहीन अडोल स्वरूप जब।
शुद्ध निरञ्जन चेतन मूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहजपदरूप जब॥
अपूर्व.........॥

काव्य - 18 पर प्रवचन

अब, सिद्धपद प्राप्त होने पर आत्मा की कैसी अवस्था होती है ? – यह बताते हैं।

जैसे, आँखों में एक रजकण भी समाता नहीं, वैसे ही अतीन्द्रिय ज्ञानघनस्वरूप आत्मा में किसी अन्य परमाणुमात्र का भी स्पर्श अच्छा नहीं लगता। उस स्वरूप को भूलकर आत्मा को पुण्यवाला, राग-द्वेषादि चिकनाईवाला, स्पर्शवाला या बन्धनवाला मानना, मिथ्यादर्शनशल्य है। आत्मा, स्वभाव से सिद्ध-भगवान तुल्य है। वह शुद्ध चैतन्यमात्र, ज्ञाता-दृष्टा, पूर्ण शान्ति और आनन्दशक्तिरूप है; उसकी पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होने पर एक परमाणुमात्र का भी संयोग-सम्बन्ध नहीं रहता – ऐसा वस्तु का सहजस्वभाव है। ऐसे अबन्धस्वभाव की यथार्थ प्रतीति जिस आत्मा में है, वह एक रजकणमात्र का भी बन्ध स्वीकृत नहीं करता, यह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। ऐसे निःशङ्क अभिप्राय को स्थिर रखने की सामर्थ्य चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है।

'मैं सिद्धसमान शुद्ध, अबन्ध हूँ; शुभ या अशुभकर्म के किसी भी रजकण का सम्बन्ध मेरे नहीं है' – इस दृष्टि को सामने रखकर पूर्ण होने के लक्ष्य से स्वरूप का उत्साह बढ़ता है और सम्यक्त्वसहित अप्रतिहभाव के चारित्र की रमणता में – स्थिर उपयोग में एकाग्रता बढ़ने से क्रमशः परमावगाढ़सम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है; तब निश्चल, पूर्ण पवित्र, वीतरागदशारूप शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

आनन्दघन भगवान चैतन्यप्रभु में एक परमाणुमात्र का भी

स्पर्श नहीं है, उसमें उपाधि का अंश भी नहीं है – ऐसा उसका मूल स्वरूप है; इसलिए उस प्रकार की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा अपना पद प्रगट होता है। उसे प्रगट करने का अपूर्व अवसर कब आवेगा? – उसकी यहाँ भावना की गयी है।

धर्मात्मा निश्चयनय से अपने को अबन्ध, शुद्ध मानता है और साथ ही उस प्रकार की निःशङ्क श्रद्धा स्थिर रखने का पुरुषार्थ बढ़ाता रहता है। उसे अशरीरी बनने के लिए मात्र मोक्ष की अभिलाषा रहती है; इसीलिए उसे संसार के किसी पदार्थ या पुण्यादि की इच्छा नहीं होती। उपाधि द्वारा अपना स्वरूप पहचानने में धर्मात्मा शर्म मानता है और अज्ञानी जीव अपने 'अहं' को बढ़ाते हुए उल्टी मान्यता करता है कि 'मैं सुन्दर, पुण्यवान, धनी, कुटुम्बी, इज्जतदार हूँ।'

आत्मा, अतीन्द्रिय, निराकुल, शान्त, समतास्वरूप, पर से भिन्न है; उसे भूलकर उपाधि में सुख की कल्पना करना और अपनी जाति से भिन्न जड़कर्म की विकारी अवस्था से आत्मा को पहिचानना महाकलङ्क है। पवित्र चैतन्यमूर्ति के ऊपर पुण्यभाव भी अपवित्र मोटी फुन्सी के समान है। चैतन्य निरोगीतत्त्व है, उसे कर्म की उपाधियुक्त जानने का धर्मात्मा को खेद है। वह निरन्तर यही भावना करता है कि 'मैं अशरीरी, मुक्तदशावाला कब हो जाऊँ?'

देहात्मबुद्धिवाले जीव को परवस्तु में सुखबुद्धि रहती है। वह देहादि की ममता और उसकी अनुकूलता के परिपोषण में ही अपना जीवन गँवाता है और अपनी समस्त शक्ति का दुरुपयोग करता है।

धर्मात्मा मुनि जङ्गल में एकाकी, देह की ममता से रहित होकर विचरण करते हैं। उस अवस्था में कभी सिंह उनके शरीर को फाड़ डाले, या किसी तरह शरीर छिन्न-भिन्न हो जाए, या इस शरीर का कुछ भी हो जावे, उससे उनके ज्ञान और समाधि में कोई बाधा नहीं है - ऐसा वे मानते हैं। ऐसे अवसर पर जिन्होंने आत्मा की अनन्त शक्ति प्रगट कर पूर्णता प्राप्त की या करेंगे, वे धन्य हैं। ऐसा होने पर ही मनुष्यशरीर धारण करने की सार्थकता है। इस प्रकार धर्मात्मा, शरीर की ममता छोड़कर मुक्त होने की भावना को बलवती (दृढ़) करता है। उसे एक क्षण भी संसार में रहने या शरीर को रखने की रुचि नहीं है। वह अपने स्वरूप के लक्ष्य से जिनाज्ञा-चिन्तन की रुचि बढ़ाते हुए, अबन्धभाव स्थिर रखते हुए प्रतिक्षण अनन्त कर्मों की निर्जरा करता है और मोक्षमार्ग की साधना करता है। वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता जाता है, जबकि अज्ञानी जीव बन्धभाव करता हुआ संसार की चार गतियों में भ्रमण करने की ओर बढ़ता है।

किसी को शङ्का हो कि निगोद, नरक, देवलोक आदि नहीं हैं, तो उन सबकी एवं परलोक आदि की स्थिति अनेक न्याय, दृष्टान्त, युक्ति एवं प्रमाण से सिद्ध होती है।

'आत्मा, नित्य है' - इस सिद्धान्त को भूलकर यह जीव अपने को शरीरादि की योग्यतावाला, राग-द्वेषयुक्त, पुण्यवाला, बन्धवाला मानता रहा है; इसलिए वह परवस्तु से प्रेम करता है; पुण्य, देहादि द्वारा अपने को पहिचानने में हर्ष मानता है। देह, पुण्यादि तो चेतन के सिर पर कलङ्कस्वरूप हैं। कलङ्क को

शोभास्वरूप मानने से उसका छुटकारा कैसे हो? इसलिए सर्व प्रथम तत्त्व समझने का प्रयत्न करना आवश्यक है। आत्मा, त्रिकाल शुद्ध, अबन्ध-स्वभाववाला है। उसे परनिमित्त से बन्धवाला, अपूर्ण, हीन या विकारी मानना सबसे बड़ा पाप, अर्थात् मिथ्यादर्शन है; वही स्वरूप की हिंसा है और अनन्त भवभ्रमण का मूल कारण है।

प्रत्येक पदार्थ सत् है; जो 'है', वह त्रिकाल होता है, स्वतन्त्र होता है। कोई भी वस्तु स्वभाव से विकारस्वरूप नहीं है। जैसे, सोने में ताँबा मिला हो तो उससे सोने का स्वरूप मलिन नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, अबन्ध है। उसे भूलकर जीव ने पर के निमित्त का स्वीकार किया है और माना है कि मैं बन्धवाला हूँ, रागवाला हूँ किन्तु यदि ऐसा हो तो जीव कभी बन्धन से छूट नहीं सकता; क्रोध को दूर करके क्षमा धारण नहीं कर सकता, किन्तु सच्चे पुरुषार्थी जीव तो क्षमा के द्वारा क्रोध का अभाव करते ही हैं।

जो संसार के प्रेम को छोड़कर परमार्थ के लिए निवृत्ति नहीं ले सकते, उनका जीवन व्यर्थ है। जिसने अपने पूरे जीवन में आत्मा सम्बन्धी विचार और सत्समागम नहीं किया, उसे आत्मा की रुचि कैसे हो?

श्रीमद् राजचन्द्र ने छोटी आयु में ही लिखा है कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा असली स्वरूप क्या है?' – इस प्रकार के विचार जिसने अन्तर से जागृत किये, उसके संसार का अन्त कैसे नहीं होगा? अवश्य होगा। जिसे अनन्त कालीन अशान्ति की – पराधीनता की हार्दिक वेदना हो, उसे अपनी आत्मा पर दया आती

है और वह अपने में योग्यता उत्पन्न कर अपने को शुद्धस्वरूप के सन्मुख करता है।

देखो तो सही! श्रीमद् जवाहरात का व्यापार करते थे, फिर भी वे निवृति चाहते थे और अपूर्व भावना करते थे कि शरीरादि का सम्बन्ध, नहीं रे नहीं! देहादि के संयोग और विकाररूप कोई भी उपाधि मुझे नहीं चाहिए; पूर्ण शुद्धात्मा के अतिरिक्त कुछ भी मेरा नहीं है।'मेरा पूर्ण सिद्धपद कब प्रगटे' – इस उद्देश्य से इस प्रकार का पुरुषार्थ में ही निरन्तर वर्तते थे। इस अपूर्व रुचि और पूर्ण पवित्र होने की भावना का उत्साह तथा केवल **निजस्वभाव में अखण्डरूप से रहने की भावना का फल यह है कि वे एक भव बाद मोक्षदशा को प्रगट करके पूर्ण पवित्र, निराकुल अनन्त आनन्द को प्राप्त करेंगे।**

लोग सुख चाहते हैं किन्तु उसके कारणों को मिलाते नहीं। वे दु:ख को नहीं चाहते, किन्तु दु:ख के कारणस्वरूप 'मोह' को नहीं छोड़ते; शरीरादि की ममता छोड़ना नहीं चाहते। वे दर्पण में अपना रूप (शरीर) देखकर प्रसन्न होते हैं, वे शरीर को ठीक रखने के लिए अहंभाव करते हुए अनेक तरह की विचित्र कल्पना करते हैं और उपाधि में सुख मानते हैं। इस अपवित्र शरीर को सर्वस्व मानकर पागल हो जाते हैं और आकुलता को सुख मानते हैं।

ज्ञानी ऐसे जीवों को सम्बोधन करते हैं कि 'हे जीव! तू देह, राग-द्वेष और पुण्य-पापादि से भिन्न है। एक बार सर्व परभाव से भिन्न हो तो मालूम होगा कि तेरे स्वभाव में रञ्चमात्र भी उपाधि नहीं है। एक बार मोहभाव से अलग होकर अपने स्वरूप के सन्मुख हो

तो तेरा चैतन्य भगवान ही तेरी रक्षा करेगा, अर्थात् तू स्वरूप में सावधान रह सकेगा।' – ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट कर दिये जाने पर भी मोही जीवों को संसार की उपाधि का प्रेम नहीं छूटता, जबकि ज्ञानी धर्मात्मा अपनी असङ्ग अवस्था प्रगट करने की भावना करता है –

'एक परमाणुमात्र की न स्पर्शता,
पूर्ण कलङ्कविहीन अडोल स्वरूप जब।'

जो इस प्रकार की भावना करते हुए जागृत जीवन व्यतीत करते हैं, वे मनुष्यभव में रहकर अपनी स्वाधीनदशा प्रगटकर धर्मरूपी तत्त्व प्राप्त करते हैं और करेंगे। संसार की रुचि छोड़े बिना, यह परम तत्त्व कैसे समझा जावे? जिसे पुण्यादि-परवस्तु में सुखबुद्धि है, उसे संसार से अरुचि और सच्ची समझ कैसे हो? स्वरूप की पहिचान हुए बिना विपरीतभाव दूर नहीं होता; इसलिए सर्व प्रथम शरीरादि की ममता कम करके सत्समागम करना आवश्यक है।

अनादि काल से मोहनिद्रा, अर्थात् भूल में पड़ा हुआ यह चैतन्य एक बार भी जागृत होकर ऐसा विचार करे कि 'मैं सर्व उपाधिरहित हूँ, कर्मकलङ्क से भिन्न असङ्ग हूँ; राग-द्वेष, पुण्य-पापादि परमाणुमात्र भी मेरे स्वभाव में नहीं हैं।'

यह इस प्रकार स्वभाव का भान करके पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर, अपने अखण्डस्वभाव का ज्ञान करके, पूर्ण पवित्रतामय अपूर्व स्वभाव का अनुभव करके मैं वैसा ही हो जाऊँ। इस प्रकार पूर्णता-प्राप्ति का अतीन्द्रिय पुरुषार्थ करके, ऐसी भावना की रुचि

द्वारा स्वरूप की स्थिरता करके, अनन्त जीवों ने पूर्ण, कलङ्करहित, शाश्वत, सहजानन्दस्वरूप मोक्षदशा को प्राप्त किया है, करते हैं और करते रहेंगे।

शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय – 'निरञ्जन', अर्थात् मलादिक विकार का अञ्जन न होना। 'चैतन्यमूर्ति' – इस शब्द में 'चिद्' धातु है; उसका अर्थ है केवलज्ञान का पिण्ड। जैसे, नमक की डली एक क्षाररस की लीला के अवलम्बन द्वारा क्षाररस से ही पूर्णरूप से भरी हुई है; वैसे ही जो एक ज्ञानस्वरूप का अवलम्बन करता है, वह केवलज्ञानरस से भरपूर भरा हुआ अपने को अनुभव में, श्रद्धा में लाता है। उस स्वभाव को खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है। वह शक्तिरूप निजभाव स्वभाव से ही प्रगट होता है, उसे किसी ने बनाया नहीं है। जिसका ज्ञानानन्द-विलास हमेशा प्रगट है, वह अरूपी पदार्थ 'चैतन्य' है। इससे यह जीव, सिद्ध परमात्मा, प्रगट चैतन्यमूर्ति कहलाता है।

'अनन्यमय', अर्थात् जिसके समान अन्य कोई नहीं है। अनन्त सिद्धात्मा शुद्ध, बुद्ध, एक, स्वभाव को धारण करनेवाले हैं। प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से सिद्धपरमात्मा जैसा है।

अगुरुलघु अमूर्त सहज पदरूप जो – 'अगुरुलघु' नामक एक गुण है, जो छहों द्रव्यों में है। आत्मा और ज्ञानगुण अभेद वस्तु हैं। उस ज्ञानगुण में आत्मा के अनन्त गुणधर्म समाहित हो जाते हैं; उसकी चेतनरूप अवस्था अनादि और अनन्त कालीन है। इस जीवद्रव्य का परिणमन उत्कृष्टरूप से हीनरूप हो तो वह निगोद में जाता है। वहाँ ज्ञानशक्ति बहुत ढँक जाती है तो भी उसके अपने

गुण का एक अंश भी जड़रूप नहीं होता और पूर्ण शुद्धस्वभाव प्रगट होने पर स्वगुण का पूर्ण परिणमन होते हुए भी वह अपने एकरूप स्वद्रव्य की मर्यादा का उल्लङ्घन कर अन्य द्रव्य में या अन्य आत्मा के प्रदेशों में प्रविष्ट नहीं होता। ऐसा परिणमन 'अगुरुलघुगुण' के कारण से होता है। कोई गुण या कोई द्रव्य अन्यरूप न हो, यह भी अगुरुलघुगुण का कार्य है।

जीव, वर्ण-गन्ध-स्पर्शरहित अमूर्तस्वरूप है। आत्मा सहजस्वभाव में अनन्त आनन्दस्वरूप है; स्वाभाविक सिद्धस्वरूप पूर्ण आत्मपद है, जो अविनाशी सहजानन्द शुद्धस्वरूप है। वह स्थिति शीघ्र प्रगट हो – यह भावना इस पद / काव्य में की गयी है।●●

हम भक्ति से वन्दन करते हैं

अहा! वे सन्त तो चैतन्य के निर्विकल्प शान्तरस का वेदन करनेवाले हैं, वहाँ उन्हें बाह्य विकल्पों की काँक्षा क्यों हो? वे परम निष्काँक्ष हैं। अन्तर में परमसुखरस के पान से जो स्वयं तृप्त हुए हैं, वे अब दुःखजनक विषयों की इच्छा क्यों करेंगे? – ऐसे परम निःकाँक्ष भाववाले जैन साधु होते हैं। सन्तों के ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय चैतन्य-परिणमन को पहिचानकर, हम भक्ति से उनकी वन्दना करते हैं।

(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

काव्य - 19

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुखमां,
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे॥

पूर्व प्रयोगादिक कारक के योग से,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय में सुस्थित जब।
सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में,
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जब॥
अपूर्व..........॥

काव्य – 19 पर प्रवचन

आत्मा चौदहवें गुणस्थान से छूटकर अपने ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थिर होता है। आत्मा, सूक्ष्म और सम्पूर्ण शुद्धत्व होने पर भी, लोक का द्रव्य होने से वह एक समय में लोकाग्र तक पहुँचता है।

यहाँ **शङ्का** उठती है कि जब आत्मा का ऊर्ध्वगमनस्वभाव है, तब वह अब तक ऊपर क्यों नहीं गया?

इसका **समाधान** यह है कि प्रत्येक जीव, उच्चता / ऊर्ध्वगमन चाहता है किन्तु अपने अज्ञान के कारण देहादि परवस्तुओं में राग –द्वेष–मोह द्वारा उपाधिरूप कर्म बन्धन में अटका है; जब तक सम्पूर्णरूप से स्वरूपस्थिरता नहीं करे, तब तक उसका ऊर्ध्वगमन–स्वभाव प्रगट नहीं होता। जो मोक्षस्वभाव पहले शक्तिरूप में था, वह जीव के पूर्ण शुद्ध होने पर प्रगट होता है और उसी समय 'ऊर्ध्वगमनस्वभाव' नामक शक्ति प्रगट होती है।

देहादि कर्मबन्धन से छूटने के बाद आत्मा नीचे नहीं रह सकता। आत्मा, अरूपी, सूक्ष्म, हल्का है; हल्का पदार्थ ऊपर ही जाता है। मिट्टी लगी हुई तुंबी कुएँ में डालने पर नीचे जाती है किन्तु मिट्टी उतर जाने पर वह तुंबी स्वयंमेव ऊपर आ जाती है; उसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा के साथ कर्मपुद्गलपरमाणुओं का सम्बन्ध था किन्तु उसको जब ज्ञान–ध्यान से दूर कर दिया, तब वह आत्मा पूर्ण कलङ्करहित स्वरूप से लोक के अग्रभाग में अचल विराजमान होता है।

अनादि काल अज्ञानभाव को दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रगट

होता है, तभी से पूर्ण शुद्धता (मोक्षस्वभाव) की अवस्था प्रगट करने के लिए स्वरूप में रहने का, अर्थात् ज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ जीव प्रगट करता है। ऐसा गुणश्रेणीरूप अनतरङ्गज्ञान में प्रयत्न, वह पूर्व-प्रयोग है और उसके द्वारा पूर्ण शुद्धस्वरूप प्रगट हुआ, जिससे सहज ही आत्मा का ऊर्ध्वगमन हुआ। क्षेत्र की अपेक्षा जीव, सिद्धालयक्षेत्र को पाता है – ऐसा कहना व्यवहार है क्योंकि वह आकाशक्षेत्र है। वास्तव में मुक्त जीव स्वक्षेत्ररूप निश्चलस्वभाव में सादि-अनन्त स्थिर रहते हैं। जीव, एक समय में लोक के अग्रभाग में पहुँचकर स्वरूप में स्थिर रहता है।

शास्त्रों में पूर्व-प्रयोगादि के चार दृष्टान्त कहे गये हैं -

१. कुम्हार के चाक की तरह पूर्व-प्रयोग से आत्मा ऊपर जाता है।

२. ऐरण्ड का बीज, सूर्य के ताप में सूखकर चटकता है, तब उसकी मींजी आकाश में ऊँची जाती है; उसी प्रकार कर्म आवरण का डिब्बा चैतन्य के – वीतरागता के ताप से जब खुलता है, तब आत्मा सहज ही आकाश में ऊँचा जाता है और तब नीचे आने के लिए किसी भी कर्म का निमित्त नहीं रहता।

३. अग्निशिखा की तरह, अर्थात् जैसे अग्नि की ज्वाला आकाश की तरफ ऊँची जाती है; उसी प्रकार आत्मज्ञानज्योति ऊपर जाती है।

४. अठारहवीं गाथा में वर्णित तुंबी के दृष्टान्त की तरह आत्मा कर्मरहित होकर ऊपर जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टान्त एक देश होते हैं; वे सब प्रकार से लागू नहीं होते।